*संस्थापक–सम्पादक*
यशदेव शल्य

# उन्मीलन

*मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक*

*सम्पादक*
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 38, अंक 1
जनवरी-जून, 2024

वर्ष 38, अंक 1 जनवरी–जून, 2024

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

## परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

## संस्थापक-सम्पादक

**यशदेव शल्य**

## सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–293668 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर,
भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

| वार्षिक शुल्क | आजीवन शुल्क |
|---|---|
| व्यक्तिगत : रु. 200/– | व्यक्तिगत : रु. 5000/– |
| संस्थाएं : रु. 500/– | संस्थाएं : रु. 10000/– |

*आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि ''प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन'' के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)*

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान**, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

# अनुक्रमणिका


1. भारतीय ज्ञान–परम्परा और उसकी विश्वदृष्टि 5
*अम्बिकादत्त शर्मा*

2. आधुनिकता की अद्वैतवादी समालोचना 24
*अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वनाथ मिश्र*

3. गेटियर समस्या : स्वरूप, संरचना और सम्भावित प्रत्युत्तर 45
*रवीन्द्र के. एस. चौधरी*

4. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे : रहस्यवाद एवं धर्म चिंतन 64
*मोहित टण्डन*

5. धर्म सापेक्षता एवं समाज 84
*श्रीप्रकाश सिंह*

6. सत्ता की समझ 98
*अनिल कुमार तिवारी*

**पुस्तक–समीक्षा**

7. बौद्ध प्रमाणव्यवस्था का मानकीकरण* 118
*जयंत उपाध्याय*

## लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. | संगीत और चिन्तन<br>(शंकर पुरस्कार से सम्मानित) | – | मुकुंद लाठ | 100.00 |
| 2. | धर्म–संकट | – | मुकुंद लाठ | 200.00 |
| 3. | कर्म–चेतना के आयाम | – | मुकुंद लाठ | 250.00 |
| 4. | क्या है?क्या नहीं है? | – | मुकुंद लाठ | 150.00 |
| 5. | मूल्यतत्त्व–मीमांसा<br>(शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित) | – | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 6. | चिद्विमर्श | – | यशदेव शल्य | 175.00 |
| 7. | तत्त्व–चिन्तन | – | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 8. | चित् की आत्म–गवेषणा | – | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 9. | काव्य–विमर्श | – | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 10. | मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं | – | यशदेव शल्य भगवती | 150.00 |

*11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

# भारतीय ज्ञान-परम्परा और उसकी विश्वदृष्टि

अम्बिकादत्त शर्मा

## उपक्रम

आधुनिक सभ्यता ने आज एक बलीयसी विश्व–सभ्यता का रूप धारण कर लिया है। यहूदी–ख्रिस्तीय ज्ञान–परम्परा और पश्चिमी विज्ञान तथा तकनीकी के आपसी गठबंधन से बनी और विकसित ज्ञान–परम्परा की यह आवश्यक साभ्यतिक निर्मिति है। जीवन और जगत् के दिव्य और दैवीय लंगरों को काट कर विश्व के उत्तरोत्तर लौकिकीकरण और निर्दैवीकरण की यह सार्वभौम कार्ययोजना है। समूची दुनिया को इसके माध्यम से नेतृत्व मिले और और पूरी मानव जाति को इस एकरेखीय जीवन शैली में नियोजित करना इस कार्ययोजना का अघोषित लक्ष्य है। इस कार्ययोजना में विगत दो सहस्त्राब्दियों तक एक दूसरे की हमवजन बनी रहीं दुनिया की तमाम संस्कृति और सभ्यताएँ इस तरह अनुप्रविष्ट और यहाँ तक कि अन्तर्भुक्त होती जा रही हैं जैसे 'ब्लैक होल' के सम्पर्क में आने वाली हर एक वस्तुएँ अपनी इयत्ता को समाप्त कर उसमें विलीन हो जाया करती हैं। सम्प्रति पूरी दुनिया में देशजता और अपनी–अपनी ज्ञान–परम्पराओं से जुड़ने की जो आत्मचेतना दिखाई पड़ रही है वह वास्तव में आधुनिक सभ्यता के वर्चस्वशाली सर्वग्रासी पूर्वपक्ष की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एक प्रतिचेतना ही है। आजकल भारत में भी यह प्रतिचेतना अतीत की उपलब्धियों और भारतीय ज्ञान–परम्परा के अतीत–संग्राही महिमा–मंडन में बड़े जोर–शोर से क्रियाशील हो उठी है। यह बात अलग है कि इस सजगता के विस्फार में ज्ञान–निष्ठा कम और राजनीतिक–निष्ठा अधिक है। जब ज्ञान–निष्ठा पर राजनीतिक–निष्ठा हावी हो जाती है तो ज्ञान–परम्पराओं के पुनराविष्कार और उसके माध्यम से साझी सामुदायिक अस्मिता के अंगीकार जैसी पवित्र

उन्मीलन – वर्ष 38, अंक 1, जनवरी–जून 2024
**ISSN-0974-0053**
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

पहल भी पहचान की राजनीति की शिकार हो जाती है। ऐसे में पहचान आधारित ज्ञान की राजनीति को दरकिनार करते हुए औपनिवेशिक आवरणों से आवृत भारतीय ज्ञान–परम्परा के सर्वसमावेशी, जीवन्त और संवर्द्धनशील स्वरूप को अनावृत करने की आज महती आवश्यकता है। इसके लिए भारतीय ज्ञान–परम्परा की चयापचयी प्रणाली को समझना आवश्यक है ताकि उसकी ऋजु–कुटिल गतिशीलता और गतिरोध की अभियांत्रिकी को भलि–भाँति समझा जा सके। यह परम्परा और नये वर्तमान में जो भविष्य गुंफित रहता है, उसके बीच के मौलिक अचेतन सम्बन्ध को सचेत स्वातंत्र्य और सर्जना का साधन बना सकने की अभियांत्रिकी होती है। इसमें परम्परा स्वतःगृहीत होती है, पर उसकी अश्मीभूत जड़ता को तरल करके, उसके कल–पुरजे खोल कर उसे विघटित करके भी, उसे आत्मसात् करने योग्य परिष्कृत रूप देकर वर्तमान की चेतना के आलोक में प्राणवान् बनाया जाता है। ज्ञान–परम्परा की इस गतिशीलता में विस्तार, संकोच, संक्षेपण, कलिवर्ज्य, विरोध, संस्करण, स्वीकृति और सर्जना की प्रक्रियाएँ साथ–साथ चलती हैं और अंततः यह सबकुछ भाषिक वाङ्मय में मूर्तिमान होती है।

**उपन्यास**

किसी भी सभ्यता और संस्कृति के पुष्पित और पल्लवित होने तथा उसे कायम बने रहने के पीछे ज्ञान–परम्परा की महती भूमिका होती है। वास्तव में एक विशेष प्रकार की ज्ञान–परम्परा ही एक विशेष प्रकार की सभ्यता और संस्कृति की धारक होती है। सभ्यता और संस्कृतियों का अधिष्ठान भौगोलिक नहीं अपितु ज्ञान–परम्परा ही होती है। यह बात अलग है कि कोई भी सभ्यता और संस्कृति एक भौगोलिक परिवेश में ही मूर्तरूप ग्रहण करती है। किसी भी ज्ञान–परम्परा का भौगोलिक परिवेश में अवतरण और मानवीय अभीप्साओं की अनुरूपता में उसका विकास एकरेखीय रूप में न होकर बहुआयामी रूप से होता है। इसीलिए सभ्यता और संस्कृतियों का रूपायन भी बहुआयामी होता है। हाँ, किसी सभ्यता और संस्कृति की पहचान इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस प्रकार के ज्ञान का मानकीकरण और आदर्शीकरण करती है। आदर्शीकृत ज्ञान ही वास्तव में पुरुषार्थ–साधना में फलित होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी दुनिया की प्रचीनतम, समृद्धतम और अद्यतन सभ्यता और संस्कृति है। इसकी निरन्तरता का शानी तो दुनिया की और कोई सभ्यता और संस्कृति

है ही नहीं। अतः यह तो स्वाभाविक है कि इसके अपने सुदीर्घ जीवनकाल में उन सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान, कला और कौशलपरक अनुशासनों का न्यूनाधिक विकास हुआ ही होगा जो इसे अबतक तमाम उतार चढ़ाओं के बावजूद धारण किये हुए हैं। वास्तव में जब हम भारतीय ज्ञान–परम्परा की बात करते हैं तो उसका आशय उन सभी प्रकार के ज्ञानात्मक उपक्रमों से है जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गतिशीलता को एक विशेष प्रकार की विश्वदृष्टि की ओर उन्मुख किये रही है। सम्भावना के बतौर ही सही, लेकिन यह बात सोची जा सकती है कि सिन्धुघाटी की अतिनगरीय सभ्यता के विनाश का प्रतिस्मरण हमारे वैदिक ऋषियों को रहा होगा। सम्भवतः इसी कारण गंगा के समतल मैदानों और समशीतोष्ण जलवायु वाले परिक्षेत्र में ग्राम्य सभ्यता और आरण्य जीवन शैली के निर्माण के लिए एक विशेष प्रकार की अन्तर्दृष्टि और ज्ञान का मानकीकरण और आदर्शीकरण उन ऋषियों ने किया होगा। वास्तव में वह विश्व की नैतिक व्यवस्था की नियामक ऋतानुगामी अन्तर्दृष्टि थी जो भारतीय ज्ञान–परम्परा में ज्ञान के विनिर्माण और मानकीकरण का नीति निर्देशक तत्त्व बनी। भारतीय सभ्यता का उद्भव, विकास तथा पोषण नगरीय चहारदीवारियों के भीतर नहीं हुआ है। नगरीय वातावरण में जो सभ्यता पनपती है उसमें मानव और प्रकृति के मध्य एक दूरी पर आधारित विचारों का प्रादुर्भाव संभावित होता है। विकास और विचार के मध्य एक पार्थक्य पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसे वातावरण में उपजी सभ्यता मानव और मानव में, स्वराष्ट्र और परराष्ट्र में तथा मानव और प्रकृति में अभेद के सूत्र को नहीं देख पाती है। भारतीय संस्कृति का जन्म, पोषण और विकास वनीय वातावरण में हुआ है। वनीय वातावरण ने हमारी सभ्यता के विचार, व्यवहार और आचार सभी को प्रभावित किया है। ऐसी सभ्यता मानव का मानव के साथ, मानव की जीवन और जगत् के साथ चेतना के विस्तार को किसी सीमा में नहीं बाँधती है। ऐसी सभ्यता मानव का मानव के साथ, मानव का जीवन–जगत् के साथ, मानव का प्रकृति के साथ तथा मानव का विश्वोतीर्ण सत्ता के साथ अपने अस्तित्व का जुड़ाव पाती है। केनोपनिषद् में ब्रह्म को 'वन' नाम से उपासना करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार से उसकी उपासना करने पर वह सभी भूतों का प्रिय हो जाता है (केनोपनिषद्, खण्ड 4, 6)। इसलिए, वन पोषित पुरातन ऋषियों का मुख्य ध्येय मानवीय चेतना और वैश्विक चेतना के मध्य संगति के सूत्र का

साक्षात्कार करना था। इसी अन्तर्दृष्टि और ज्ञान का अनुवाद जिस सभ्यता और संस्कृति में हुआ है, वही भारतीय सभ्यता और संस्कृति है। वस्तुतः जिसे हम भारतीय ज्ञान–परम्परा कहते हैं उसकी यही संक्षिप्त प्रस्तावना है।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा का भौगोलिक मानचित्र**

भारतीय ज्ञान–परम्परा को भूगोलवाची अर्थ में हिन्दू ज्ञान–परम्परा भी कहते हैं। यह सिन्धु नदी के उसपार के परिक्षेत्र में रहने वाले निवासियों की ज्ञान–परम्परा और उनकी भौगोलिक एकता की वाचक ज्ञान–परम्परा है। यह बात अलग है कि हिन्दू शब्द ईरानियों द्वारा सिन्धु शब्द के अपभ्रंश उच्चारण के कारण प्रचलन में आया हुआ एक रूढ़ लेकिन स्वीकृत पद है। इससे जिस भूभाग को संकेतित किया जाता है उसे ही हिन्दुस्तान कहते हैं। इसका प्राचीन नाम आर्यावर्त भी था, लेकिन दोनों के भौगोलिक विस्तार में थोड़ा ही सही, अन्तर अवश्य है। आर्यावर्त पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक के परिक्षेत्र को कहा जाता है, परन्तु हिन्दुस्तान की दक्षिणी सीमा विंध्यपर्वत से आगे कन्याकुमारी तक जाती है। इस व्यापक भूभाग की सभ्यता और संस्कृति के पीछे जिस ज्ञान–परम्परा की सक्रिय भूमिका रही है उसे ही भारतीय ज्ञान–परम्परा से अभिहित किया जाता है। यह बात अलग है कि किसी भी ज्ञान–परम्परा के भौगोलिक मानचित्र की कोई स्थिर अवधारणा नहीं होती है। उसमें विस्तार और संकोच दोनों ही होते रहते हैं। ज्ञान–परम्परा के भौगोलिक मानचित्र में भाषायी भूगोल, सांस्कृतिक भूगोल और राजनीतिक भूगोल भी सम्मिलित हुआ करते हैं। इसी कारण किसी भी ज्ञान–परम्परा के भौगोलिक मानचित्र का विचार उसकी संक्रान्तिक सीमाओं के आधार पर भी की जाती है। ज्ञान–परम्परा की संक्रान्तिक सीमा अकसर भाषायी, सांस्कृतिक और राजनीतिक भूगोल का अतिक्रमण भी करती है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान–परम्परा की संक्रान्तिक सीमा को पश्चिम में मध्यपूर्व से लेकर पूर्व में सुदूर पूर्व तक और उत्तर में हिमालय के पार से दक्षिण में हिन्दमहासागर पर्यन्त विस्तृत माना जा सकता है। पं. मधुसूदन ओझा ने अपनी कृति 'इन्द्रविजयः' में भारत वर्ष की संक्रान्तिक सीमा को वैदिक–पौराणिक प्रमाणों के आधार पर पूर्वी चायना समुद्र से लेकर पश्चिम में प्रशान्त महासागर (रेड समुद्र) पर्यन्त माना है। दक्षिण में इसका विस्तार हिन्द महासागर के मध्य विषुवत रेखा और उत्तर में हिमालय पर्यन्त निर्धारित किया है (एतद्

भारत वर्ष रक्त समुद्रान्त मस्ति पश्चिमतः। पीत समुद्राश्लिष्ट प्रशान्तसागर परंप्राच्याम्।। याम्ये समुद्रमध्ये विषुवान्तं तत् यथोदीच्याम्। हिमवत्पर्वतपरमं प्रवदीन्तीत्थं चतुःसीमम्।।– भारतवर्ष : दी इण्डिया नैरेटिव, पं. मधुसूदन ओझा, अंग्रेजी अनुवाद, प्रो. कपिल कपूर, सम्पादक, विल्सनजॉन, रूपा पब्लिकेशन, 2017, पृ. 344।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा का सनातन अर्थ–सन्दर्भ**

भारतीय ज्ञान–परम्परा के उपर्युक्त भूगोलवाची अर्थ से भिन्न उसके स्वरूप को बताने वाला जो दूसरा शब्द है वह है – सनातन ज्ञान–परम्परा। साधारण तौर पर इसके सनातन होने का अर्थ इसकी प्राचीनता से लिया जाता है। यह सही भी है, क्योंकि विश्व के ज्ञात इतिहास में उसके प्राचीन और अद्यतन कोई दूसरी ज्ञान–परम्परा नहीं रही है। पुनः इसे सनातन इसलिए भी कहा जाता है कि इसकी शुरूआत इतिहास के किसी निश्चित काल–खण्ड से नहीं हुई है जबकि विश्व की अन्य प्रमुख ज्ञान–परम्पराओं का ऐतिहासिक प्रारम्भ सुविदित है। परन्तु भारतीय ज्ञान–परम्परा को सनातन कहे जाने के कालवाची अर्थों से भिन्न उसका एक गहरा अर्थ भी है। वह यह कि भारतीय ज्ञान–परम्परा का अनुवाद कर्त्तव्याकर्त्तव्य के जिन विधि–निषेधों की सांस्कृतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था में हुआ है वह किसी शास्ता अथवा देवदूतों के माध्यम से प्राप्त ईश्वरीय आदेश अथवा परामर्श नहीं बल्कि स्वतंत्र मानवीय विवेक की सार्वभौमिक गवेषणाएँ हैं और जिनका निर्धारण या तो संसार के वास्तविक स्वरूप और उसे धारण करने वाले नियमों (ऋत्) या फिर मनुष्य की अन्तरात्मा जहाँ भूतमात्र की आत्मौपम्यता का स्वाभाविक विवेक जागता है; को सन्दर्भ बनाकर किया जाता है। वस्तुतः औचित्य अथवा श्रेय के निर्धारण के यही दो मौलिक प्रतिमान हैं। इसलिए भारतीय ज्ञान–परम्परा धार्मिक पोथियों में सदा–सर्वदा के लिए निबद्ध कोई अनुलंध्य आदेश नहीं बल्कि संसार की वास्तविकता और मनुष्य की अन्तरात्मा के बीच आदर्शतम ताल–मेल के साथ जीवन का सर्वोत्तम विनियोग है।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा की आत्म–प्रतिमा**

जगत् के वास्तविक स्वरूप को संदर्श बनाकर जब किसी ज्ञान–परम्परा का अनुवाद जीवन–लोक में होता है तो प्रवृत्तिमूलक लोकसिद्धि उसका जीवनादर्श बनता है। उसी तरह अन्तरात्मा को संदर्श

बनाकर जब ज्ञान–परम्परा जीवन–लोक में अनूदित होती है तो निवृत्तिमूलक स्वरूपसिद्धि उसका प्रमुख जीवनादर्श बनता है। भारतीय ज्ञान–परम्परा की आत्मप्रतिमा इन्हीं दोनों प्रकार के जीवनादर्शों के सुन्दर सहभाव से निर्मित हुई है। इसलिए इसके अन्तर्गत विकसित ज्ञान–विज्ञान की समस्त शाखायें लोकसिद्धि और स्वरूपसिद्धि के जीवनादर्श को ही अपने–अपने तरीकों से पुष्ठ करती हैं। ऐसा माना जाता है कि भारतीय ज्ञान–परम्परा में लोकभावना, जगद्भावना की प्रवृत्तिमूलक प्रधानता आर्यपरम्परा से आई है और लोकजीवन का अतिक्रमण करते हुए स्वरूपसिद्ध (मोक्ष) को ही श्रेय समझने का विचार द्राविड़ परम्परा की देन है। इतिहास के गर्भ में छिपी इस बात को लेकर कितना भी विवाद क्यों न हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि भारतीय ज्ञान–परम्परा की आत्मप्रतिमा लोकसिद्धि (धर्म) और स्वरूपसिद्धि (मोक्ष) के आदर्श से ही लक्षित होती है। इन दोनों जीवनादर्शों को भारतीय ज्ञान–परम्परा का मौलिक प्रतीक कहा जाना अधिक उचित है। दूसरे शब्दों में अभ्युदयकारक धर्म और निःश्रेयशकारक मोक्ष से ही भारतीय ज्ञान–परम्परा की आत्मप्रतिमा मूलगामी रूप से परिभाषित होती है। इस परिभाषा में अभ्युदय का अर्थ लोकसिद्धि और निःश्रेयश का अर्थ स्वरूपसिद्धि सुतरां स्पष्ट है। महाभारतकार ने भी ''धर्मार्थकामोक्षानां इतिहास समन्वितम्.... कहते हुए भारतीय ज्ञान–परम्परा के इसी टेलियोलॉजी को संकेतित किया है। भारतीय ज्ञान–परम्परा की आत्मप्रतिमा के उपर्युक्त दोनों मूलभूत प्रतीकों ने सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के काव्यों, कलाओं, धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य और पुराकथाओं के साथ–साथ वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण के विधानों को किस तरह प्रभावित और अनुप्राणित किया है, यह खुली आँख से देखने की चीज है। यहाँ तक कि 'कामशास्त्र' भी इसका अपवाद नहीं है। इसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा उसकी धार्मिक चेतना को इतना समन्वयात्मक चरित्र और आत्मसीमन की क्षमता प्रदान किया है कि प्रश्न और प्रतिप्रश्न, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही इसके अंगभूत हो जाते हैं। विरोधों और विचित्रताओं को आत्मसात् करलेने की इसमें अद्भुत क्षमता है।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा का वाङ्मयसंस्थान**

भारतीय ज्ञान–परम्परा कोरे आस्थाओं की संहिता न होकर जीवन और जगत् के प्रति आत्मचेतन विवेक से उपजा हुआ एक औचित्यविधान है।

इसके पार्श्व में जो आत्मचेतन विवेक की सुदीर्घ परम्परा रही है उसी की अभिव्यक्ति ऋषियों, मुनियों और व्यास परम्परा के माध्यम से श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, दर्शन, नीति और महाकाव्यों के रूप में वाग्विग्रहित हुई है। इन सबों का सम्मिलित रूप ही भारतीय ज्ञान–परम्परा का लिपिबद्ध वैचारिक संस्थान है।

श्रुति का अर्थ वेद है जो ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय ज्ञान–परम्परा के आद्य स्त्रोत के रूप में वेदों को अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों माना जाता है, लेकिन इससे उनकी सर्वोपरि प्रामाणिकता पर कोई आँच नहीं आती। यद्यपि वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों के उपस्थापक ऋषि ही होते हैं लेकिन उन्हें मंत्रकर्त्ता नहीं अपितु मंत्रद्रष्टा (ऋषियोः मंत्र द्रष्टारः) कहा गया है। प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखायें हैं जिनमें कुछ प्राप्त हैं और शेष अन्य लुप्त हो गये हैं। मुख्य रूप से वेदों के चार भाग होते हैं जिन्हें मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् कहा जाता है। स्मृतियों की संख्या भी कई मानी जाती है। परन्तु मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, शंख स्मृति और पराशर स्मृति का नाम प्रमुखता से जाना जाता है। शास्त्र छः हैं जो वास्तव में विशिष्ट विद्यायें हैं। इन्हें शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष के रूप में परिगणित किया गया है। वेदांग इनका अपर नाम है। देखने लायक बात यह है कि छः वेदांगों में चार (शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, छन्द) प्रत्यक्ष रूप से भाषा विषयक हैं। शिक्षा भाषा को उसके ध्वन्यात्मक रूप में विचारती है। निरूक्त उसे अर्थविज्ञान के परिवेश में देखता है। व्याकरण भाषा को संरचना के रूप में देखता है और छन्द उसे एक लय के रूप में देखता है। शेष दो शास्त्र कल्प और ज्योतिष क्रमशः धर्म विज्ञान और खगोल विज्ञान और गणित विद्या से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में उपवेदों का भी उल्लेख आता है। वेदांगों का उल्लेख तो उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है परन्तु उपवेदों की चर्चा परवर्ती प्रतीत होती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो विद्यायें उपवेदों में निहित हैं वे वैदिक युग में नहीं थीं। आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, धनुर्वेद और दण्डनीति ये सभी विद्यायें अपनी परम्परा का मूल वैदिक ऋषियों से ही बताती है। पुराण अठारह हैं जिनमें इतिहास, कथा, वंशावली और दृष्टान्तों– आख्यानों के माध्यम से वैदिक अन्तर्दृष्टियों का लोकजीवन में संस्थानीकरण किया गया है। पुराण एक विद्या है जो वेद के

समान ही अनादि है। वेद के दो भाग माने गए हैं – पुराण वेद व यज्ञ वेद। आज सामान्यतया यज्ञवेद को ही वेद माना जाता है तथा पुराण वेद को केवल 'पुराण' शब्द से ही अभिहित किया जाता है किन्तु याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने विद्याओं की गणना में पुराण–विद्या को प्रथम स्थान देकर इसका शीर्ष स्थानीय महत्त्व स्वीकारा है–

**पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राग्ङमिश्रिताः।**
**वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।**

पुराण नाम ही इसका सबसे पुरानापन सिद्ध करता है। पुराण प्राचीन काल की कथाओं, घटनाओं के बोधक ग्रंथ हैं। यह शब्द ''इतिहास–पुराण'' इस द्वन्द्व समास के रूप में भी व्यवहृत हुआ है, इससे भी वही अर्थ द्योतित होता है। सायणाचार्य के मत से – 'पुराण वह है जो मनुष्य की आदिम दशा का वर्णन करता है।' यह पुराण–साहित्य अत्यन्त विशाल है जो मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त है – पुराण और उपपुराण। पुराणों की संख्या 18 मानी गई है और इतने ही उपपुराण भी कहे गए हैं, यद्यपि कहीं–कहीं उपपुराणों की संख्या अधिक भी बताई गई है। 18 महापुराणों के नाम इस प्रकार हैं – 1. ब्रह्म पुराण, 2. पद्म पुराण, 3. विष्णु पुराण, 4. वायु पुराण (या शिव पुराण), 5. भागवत पुराण, 6. नारद पुराण, 7. मार्कण्डेय पुराण, 8. अग्नि पुराण, 9. भविष्य पुराण, 10. ब्रह्मवैवर्त पुराण, 11. लिंग पुराण, 12. वराह पुराण, 13. स्कन्द पुराण, 14. वामन पुराण, 15. कूर्म पुराण, 16. मत्स्य पुराण, 17. गरुड़ पुराण तथा 18. ब्रह्माण्ड पुराण। इसी प्रकार गरुड़ पुराण (अ. 227) में उल्लिखित 18 उपपुराणों के नाम ये हैं – 1. आदि पुराण, 2. नरसिंह पुराण, 3. स्कन्द पुराण, 4. शिवधर्म पुराण, 5. दुर्वासा पुराण, 6. नारद पुराण, 7. कपिल पुराण, 8. वामन पुराण, 9. औशनस पुराण, 10. ब्रह्माण्ड पुराण, 11. कालिका पुराण, 12. वारुण पुराण, 13. माहेश्वर पुराण, 14. साम्ब पुराण, 15. सौर पुराण, 16. पाराशर पुराण, 17. मारीच पुराण एवं 18. भास्कर पुराण। जबकि ''वृहद् विवेक'' (3/37.39) में उपपुराणों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं – 1. सनत्कुमार पुराण, 2. बृहन्नारदीय पुराण, 3. आदित्य पुराण, 4. मानव पुराण, 5. नन्दिकेश्वर पुराण, 6. कौर्म पुराण, 7. भागवत पुराण, 8. वशिष्ठ पुराण, 9. भार्गव पुराण, 10. मुद्गल पुराण, 11. कल्कि पुराण, 12. देवी पुराण, 13. महाभागवत पुराण 14. वृहद्धर्म पुराण, 15. परानन्द पुराण, 16. पशुपति पुराण, 17. बह्नि पुराण

और 18. हरिवंश पुराण। उपपुराणों की कतिपय अन्य सूचियाँ भी प्राप्त होती हैं। इस तरह जहाँ महापुराणों की संख्या और नामों के विषय में प्रायः मतैक्य है वहाँ उपपुराणों के विषय में उतना ही मतभेद है। इन पुराणों–उपपुराणों को शैव, ब्राह्म, शाक्त, वैष्णव, सौर आदि श्रेणियों में भी बाँटा गया है, जैसे – वैष्णव पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, विष्णु धर्म, विष्णु–धर्मोत्तर, नरसिंह, क्रियायोग सार, कल्कि तथा आदि पुराण, सौर पुराणों के अन्तर्गत साम्ब, सूर्य, सौरधर्म तथा सौरधर्मोत्तर पुराण आदि, शाक्त पुराणों के अन्तर्गत देवी, कालिका, महाभागवत, नन्दा, सारदा, वृहन्नन्दिकेश्वर आदि पुराणों की गणना की जाती है। पुराण का अपर नाम "पंच–लक्षण" भी है, जो इन समस्त पुराणों में समान रूप से वर्णित पाँच विषयों की ओर संकेतित करता है। ये पाँच विषय हैं – सर्ग अर्थात् सृष्टि का विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली अर्थात् किस मनु का अधिकार कब तक रहा तथा उस काल में कौन–कौन सी प्रमुख घटनाएँ हुईं और वंशानुचरित अर्थात् सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं का संक्षिप्त वर्णन। ये ही पुराण के पंच–लक्षण हैं –

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।**
**वंशानुचरितं ज्ञेयं पुराणं पंचलक्षणम्।।**

भारतीय ज्ञान–परम्परा के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले छः आस्तिक दर्शन जिन्हें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से जाना जाता है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा गया है। वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करने के कारण ही इन्हें नास्तिक कहा गया है (नास्तिको वेदनिन्दकः)। यद्यपि भारतीय दर्शनों का यह विभाजन पर्याप्त नहीं है। यदि इसे अद्यतन किया जाये तो दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या निम्न रूप में परिगणित की जा सकती है – बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, जैन, योग, व्याकरण दर्शन, चार्वाक, शैव सिद्धांत, काश्मीर शैव, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत, वीर शैव, न्याय वैशेषिक, निम्बार्क वेदान्त, विशिष्टशैवाद्वैत, हठ योग, भक्ति दर्शन, वल्लभ वेदान्त, द्वैताद्वैत, योगवासिष्ट, अचिंत्यभेदाभेद। सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या बारह मानी है। भारतीय ज्ञान–परम्परा में इन सभी दर्शन–प्रस्थानों की बड़ी महिमा रही है और इनके साहित्य का भण्डार भी उतना ही विपुल है। वास्तव में देखा जाए

तो भारत में 'दर्शन' की प्रस्थिति और भूमिका ज्ञान की अन्य विधाओं की तरह कोई एक विषयमूलक–ज्ञानव्यवस्था नहीं, अपितु ज्ञान का एक आत्मोन्मुख व्यापार है जो ज्ञान की अन्तर्वस्तु की ही अनुवीक्षा या फिर विमर्श करता है। यही कारण है कि 'दर्शन' मूलगामी रूप से विश्वदृष्टि के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों के उद्‌घाटन में फलित होता है जो विभिन्न विद्यास्थानों के आदेशों, परामर्शों, निर्धारणों, व्यावहार के विधि–निषेध परक नियमों, आदर्शों एवं मूल्यों को प्रामाणिकता के साथ–साथ औचित्य प्रदान करता है। अपनी इसी भूमिका में 'दर्शन' भारतीय ज्ञान–परम्परा के सभी विद्यास्थानों के पुरुषार्थों को एक विश्वदृष्टि में आदर्श नियामक समायोजन भी करता है। इसीलिए भारतीय परम्परा में 'दर्शन' को 'प्रदीपः सर्वविद्यानां' कहा गया है। नीति ग्रंथों में शुक्र नीति, विदुर नीति और कामंदक नीति का भारतीय ज्ञान–परम्परा में बड़ा आदर है। अंत में महाकाव्यों की परम्परा में रामायण, महाभारत, रामचरितमानस और अश्वघोष रचित बुद्धचरित महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये महाकाव्य कथानक के माध्यम से एक सम्पूर्ण संसार और संसार में भारतीय जीवन–दृष्टि के आदर्शतम स्वरूप को चरितार्थ हुआ दिखाते हैं। वास्तव में इन महाकाव्यों को धर्ममय जीवन की जीवनगाथा कहा जाना अधिक उचित है। यद्यपि इन चारों महाकाव्यों की मूल–दृष्टि के प्रस्थान–भेद की अनदेखी नहीं की जा सकती, फिर भी माना जाता है कि भारतीय ज्ञान–परम्परा का निचोड़ इन महाकाव्यों में मानव जीवन के समस्त अन्तर्द्वन्द्वों के साथ, उनका समाधान करते हुए प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्यों की परम्परा में संस्कृत परम्परा के पंचमहाकाव्यों को भी भारतीय ज्ञान–परम्परा को उत्तर–समृद्धि प्रदान करने वाला माना जाता है। ये पंचमहाकाव्य हैं – कालिदास कृत 'रघुवंशम्' और 'कुमारसम्भवम्', भारवी कृत 'किरातार्जुनीयम्', माघ कृत 'शिशुपालवध' और श्रीहर्ष प्रणीत ''नैषधचरित''। भारतीय ज्ञान–परम्परा के इस विशाल वाङ्मयी संस्थान में जीवन और जगत् के परमार्थ से लेकर व्यवहार पर्यन्त समस्त प्रोरणाओं, अभीप्साओं और लोकजीवन के बहुविध रूपों एवं संस्थानों का समावेश किया गया है। परा और अपरा विद्या के रूप में सम्भवः ज्ञान के समस्त अनुशासनों का विकास इसके अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप में सम्भव हुआ है। इनमें विविधता बहुत है, पक्ष और विपक्षों की भरमार है, फिर भी सबके सब निगमागमों के ही अर्थ विस्तार हैं। मनु ने भी कहा है – इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।

किसी भी ज्ञान–परम्परा का वैचारिक संस्थान उसके अन्तर्गत विकसित जिन विद्यास्थानों के संकुल से बनता है, उनमें एक लक्ष्योन्मुखी एकवाक्यता आवश्यक होती है। ऐसा होने से ही सभ्यता और संस्कृति में उनका अधिकतम विनियोग हो पाता है। इसी प्रक्रिया में ज्ञान–परम्पराएँ सभ्यता और संस्कृति को सुगठित कर सौष्ठव प्रदान करती हैं। भारतीय ज्ञान–परम्परा के समस्त विद्यास्थानों की लक्ष्योन्मुखी एकवाक्यता ही उसके वैचारिक संस्थान की अत्युच्च विशेषता है। भारतीय ज्ञान–परम्परा के वाङ्मयी संस्थान की अद्‌भुत विशेषता यह है कि यह कोई स्थावर हो गई रूढ विचार–परम्परा नहीं बल्कि बहुविध प्रकार के व्याख्या ग्रन्थों के माध्यम से उत्तरोत्तर अपना आलोचनात्मक परिष्कार और अपनी अर्थ–चेतना के विस्तार में सतत् संलग्न जीवन्त विचार–परम्परा है।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा और उसकी व्याख्या पद्धति**

भारतीय ज्ञान–परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तंत्रबद्धता और प्रतितंत्र के प्रति सहिष्णुता रही है। यहाँ पर विभिन्न प्रकार के विद्या–स्थानों और बौद्धिक परम्पाओं का अस्तित्त्व आरम्भ से ही रहा है जो अपने कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास के स्वकीय प्रारूप में उत्तरोत्तर विकसित होते रहे हैं। विकास की ऐसी बहुध्रुवीय लेकिन तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता में भारतीय ज्ञान–परम्परा की विकासमानता ऊपर से प्रकट रूप में दिखाई नहीं पड़ती। इसी कारण कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं। वास्तविकता जबकि यह है कि भारतीय ज्ञान–परम्परा में व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं, यहाँ तक कि वैकल्पिक दृष्टियों के विकास की अन्तर्धारा युक्तिमत और अनवरत रूप से वर्द्धमान रही है। द्रष्टव्य है कि भारतीय पुराकथा में 'ब्रह्मा' आदि देव के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन्हें ही समस्त प्रधान–भूत शास्त्रों, विद्या–स्थानों का आद्य शास्ता कहा जाता है। शास्ता का अर्थ शासनकर्त्ता होता है। इसीलिए समस्त विद्याओं के मूल ग्रंथ शास्त्र अथवा शासन कहे जाते हैं। ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अतिविस्तीर्ण होने के कारण इन्हें तंत्र भी कहते हैं। उत्तरवर्ती ऋषि–मुनियों ने ब्रह्मोपदिष्ट शास्त्रों को ही संक्षिप्त और स्वकालोपयोगी बनाया है। भारतीय परम्परा में तत्तद शास्त्रों को तत्तद ऋषियों द्वारा प्रोक्त कहे जाने के पीछे यही आशय रहा है। प्रोक्त का लक्षण है–यत्तेन प्रोक्तं न च तेनकृतम्। अर्थात्, अन्य के द्वारा उपदिष्ट अथवा कृत का विशेष प्रवचन।

ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट वाङ्मय (दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रोवाच् न चान्तम जगाम्) शास्त्र, शासन और तंत्र नाम से अभिहित होने के कारण ही उत्तरकालिक ऋषि–मुनियों द्वारा प्रोक्त वाङ्मय को अनुशास्त्र, अनुशासन और अनुतंत्र कहा जाता है।

भारतीय ज्ञान–परम्परा में अनुशास्त्रों का सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक, टीका और प्रकरणादि ग्रन्थों के माध्यम से लोकविस्तरण को बड़े ही रोचक ढ़ंग से पराशरोपपुराण के 18 वें अध्याय में निरूपित किया गया है। इसमें अल्पाक्षर और असंदिग्ध पदों से युक्त सारवत् और विश्वतोमुख ज्ञान–राशि को सूत्र कहा गया है, जिसमें पुनरावृत्ति और क्रमभंग की संभावना नहीं रहती है। वास्तव में सूत्र अपने मूल स्वरूप में ज्ञान के घनीभूत रूप को धारण करने वाले अत्यन्त संशलिष्ट शब्द–राशि हुआ करते हैं। सूत्रों की संशलिष्टता को भाषायी संक्षेपीकरण के अर्थ में नहीं समझा जा सकता, बल्कि किसी विचार को उसके मूल प्रत्यय में प्रत्यहृत करने के अर्थ में समझा जाना चाहिए। व्याकरण परम्परा में संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम और अधिकार नामक सूत्रों के प्रकारभेद स्वीकार किये गये हैं। आयुर्वेद परम्परा में डल्हण में सूत्रों के गुरुसूत्र, एकीयसूत्र, प्रतिसंस्कृत सूत्र इत्यादि के रूप में प्रकार भेद बताए हैं। इसी तरह न्याय परम्परा में उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा नामक भेदों में सूत्रों को परिगणित किया गया है। श्री लक्ष्मीपुरम श्रीनिवासाचार्य ने श्रुतिप्रकाशिका नामक ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए उपदेशानात्मक, व्याख्यानात्मक और उपपादानात्मक नामक सूत्रों के तीन प्रकार बताए हैं। जब कोई शास्त्र परम्परा अपनी सम्पूर्ण वैचारिक योजना के साथ सूत्रसंहति में प्रस्तुत होती है तो वास्तव में वह विचार की अत्यन्त सघन संरचना हुआ करती है। इसलिए सूत्रों को बाद में उसके निहितार्थ को उद्घाटित करने के लिए व्याख्यायित करना पड़ता है। सूत्रों को व्याख्यायित करने के षड़तंत्रीय और पंचसूत्रीय व्याख्या पद्धतियाँ भारतीय ज्ञान–परम्परा में बहुत प्रसिद्ध रही हैं। इन्हीं व्याख्या पद्धतियों का विनियोग करते हुए सूत्रोपरिवृत्ति नामक ग्रन्थ के द्वारा सूत्रके तात्पर्य को विस्तार और संक्षेप दोनों से बचते हुए उसके यथातथ को प्रकाशित किया जाता है। पुनः सूत्रों पर भाष्य लिखने की बड़ी समृद्ध परम्परा भारतीय ज्ञान–परम्परा में रही है। सूत्रानुसारी वाक्यों के द्वारा सूत्र के आशय को प्रकट करते हुए अपने वाक्यों का तात्पर्य भी जहाँ कहा जाता है उसे भाष्य कहते हैं। भाष्य के पश्चात्

वार्तिक ग्रन्थ के माध्यम से किसी अनुशास्त्र का लोकविस्तरण अपने परम आलोचनात्मक स्वरूप को प्राप्त करता है। इसीलिए वार्तिककार वृत्ति एवं भाष्य में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त तीनों पक्षों की व्याख्या करते हुए शास्त्र के तात्पर्य को उच्चस्तरीय आलोचनात्मकता के साथ निरूपित करता है। भारतीय ज्ञान–परम्परा में अनुशास्त्रों का अवान्तर लोकविस्तरण संग्रह एवं अन्याय प्रकार की टीका एवं प्रकरण ग्रन्थों के माध्यम से सतत् प्रवर्द्धमान रही है। अतः यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि भारतीय ज्ञान–परम्परा संग्रहालय में पड़ी कोई पुरानी वस्तु नहीं जिसे केवल संरक्षित ही किया जा सकता है, बल्कि यह उत्तरोत्तर आलोचनात्मक होती हुई विचारों की एक जीवन्त परम्परा है जिसमें अतीत वर्तमान की प्रतीक व्यवस्था में अपने को समायोजित करता जाता है। इसीलिए भारतीय ज्ञान–परम्परा की इतिहास दृष्टि इतिहास की आधुनिक अवधारणा से सर्वथा भिन्न रही है।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा में सभी विद्या–स्थानों की लक्ष्योन्मुखी एकता**

भारतीय ज्ञान–परम्परा में किसी भी विद्या का मूल्य स्वरूपतः उतना नहीं है, जितना ब्रह्मविद्या का अंश होने के नाते है (स ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठामथर्वाय, मुण्डकोपनिषद्–1/1)। इसीलिए प्राचीन प्रधान विज्ञानों का नाम 'उपवेद' रखा गया, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदमूलक होने से ही उनका मूल्य है, न कि स्वतंत्र होने से। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद आदि को इसी कोटि में रखा जा सकता है। यही बात कलाओं के ऊपर भी लागू होती है, क्योंकि कला प्रतीकों का आधार है एवं ध्यान आदि का आश्रय प्रतीक होता है। कलाओं के नियमादि भी अन्य विद्याओं के नियमों की भाँति प्रकृति के आधारभूत धर्म के आभास हैं। इस प्रकार सनातनी विद्याओं–विज्ञानों के साथ सनातनी कलाएँ भी हैं। मध्यकालीन शिल्प–कला सनातनी कलाओं का एक अनुपम नमूना है, क्योंकि इस कला में शिल्प–सम्बन्धी प्रत्येक विद्या या विज्ञान का स्पष्ट संकेत है। दुर्भाग्य से आधुनिक पाश्चात्यों को इनका कोई ज्ञान नहीं है।

प्राकृतिक विज्ञान, या फिर अपरा विधाएँ अपने–अपने क्षेत्र में अवश्य उपयोगी हैं, जब तक वह अपने स्थान में स्थित रहे होते हैं। यह सुगमता से समझ में आ सकता है कि जो कोई व्यक्ति ज्ञान की उच्च भूमिका पर पहुँच चुका है, उसके लिए निम्न श्रेणी के साधारण विज्ञानों का विशेष मूल्य नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तविक विद्या अर्थात्

ब्रह्मविद्या के इच्छुक व्यक्ति के लिए विज्ञानों का मूल्य वहीं तक है, जहाँ तक उनका ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध है, अर्थात् जब तक वे अपने–अपने क्षेत्र में तत्त्व–दृष्टि रखते हैं एवं जिज्ञासुओं के लिए ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का मार्ग बन सकते हैं। इस प्रकार, परम्परागत विज्ञानों के दो परस्पर सहकारी कार्य हैं, प्रथम तो तत्त्व–विद्या के अंश एवं विशेष अंग होने से संसार के समस्त क्षेत्रों की आधारभूत एकता इनके द्वारा प्रकट होती है। इनका दूसरा कार्य यह है कि विशेष व्यक्तियों के लिए उनकी मानसिक शक्ति एवं अधिकार, समय, स्थान आदि के अनुसार ये विज्ञान ब्रह्मविद्या की ओर ले जाने वाले मार्ग बन सकते हैं। वे ऐसी सीढ़ियों का काम देते हैं, जिनके द्वारा बुद्धि क्रमशः जड़ संसार को छोड़कर ब्रह्मविद्या की ओर अग्रसर हो सकती है। इसलिए भारतीय ज्ञान–परम्परा में ज्ञान के समस्त अनुशासनों की प्रयोजनीयता ब्रह्मविद्या के अनुषंगी होने में है और ब्रह्मविद्या की फलश्रुति ''आत्मज्ञान'' है। यही कारण है कि भारत में ज्ञानी होने का मतलब आत्मज्ञानी होना है।

इस प्रकार अनेक विद्याएँ एक तत्त्व के दर्शन में दृष्टान्त–रूप बन जाती हैं, जिनकी सहायता से विविध प्रकार की बुद्धियों को तत्त्वदर्शन करने में सुविधा हो। बहुविध प्रकृति के वश में रहते हुए मनुष्य की बुद्धि बहुत्व में लीन रहती है, इसलिए उसको एकत्व की ओर ले जाने के लिए बहुविध रूपों की सहायता लेनी पड़ती है। सर्वोच्च ज्ञान के मार्ग की प्रारम्भिक भूमिकाएँ अनेक प्रकार की हैं। परन्तु जीव लक्ष्य के जितना समीप पहुँचता है, विभिन्न मार्ग उतने ही अधिक एक–दूसरे में लीन होते जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें भक्ति की सघनता होने के कारण ऐसे साधनों की आवश्यकता नहीं होती, उनको सीधे ही तत्त्वदर्शन का सौभाग्य मिल जाता है। परन्तु यह असाधारण बात है, साधारण जीवों को क्रमशः उन्नत अवस्था की ओर चलना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्यों ने भक्ति को परम कोटि का 'विज्ञान' माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तुओं की तात्त्विक एकता के कारण जड़ वस्तु भी तत्त्व की प्रतिमा एवं तत्त्वदर्शन का आधार बन सकती है। यही बात प्रत्येक विद्या या विज्ञान के बारे में सत्य है। ज्योतिष विद्या और गणित विद्या का इसी प्रकार का उपयोग अनेक सम्प्रदायों ने परम्परा में किया है। इसी से प्राचीन ज्योतिष और गणित की गरिमा और महत्ता को समझा जा सकता है। कोई भी विद्या, जो अपने

सनातनी स्रोत से कटी नहीं है, आत्मविद्या की प्रतिमा बन सकती है (इस विषय पर विस्तार के लिए द्रष्टव्य बृजेन्द्र पाण्डेय का आलेख ''भारतीय चित्त, मानस और काल : वैश्विक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य'' उन्मीलन, वर्ष 37, अंक 2, 2023)।

**भारतीय ज्ञान–परम्परा की समवेत विश्वदृष्टि**

भारतीय ज्ञान–परम्परा अपने स्वरूप में एक सावयवी विचार–परम्परा है। इसलिए भारतमूलीय ज्ञान की विभिन्न विधाओं, शाखाओं और विद्यास्थानों को एकबारगी एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा–समझा जा सकता है। सभी प्रकार के शास्त्र और विद्यायें एक समग्र विश्वदृष्टि की अनुशयी होकर ही भारतीय ज्ञान–परम्परा में अपनी–अपनी भूमिका और प्रस्थिति में फलवती होती हैं। अतः भारतीय ज्ञान–परम्परा समवेत रूप में जिस विश्वदृष्टि के साथ फलित होती है उसे समझे बिना भारतीय ज्ञान–परम्परा के स्वरूप और उसकी निज विशेषता को समझा नहीं जा सकता। भारतीय ज्ञान–परम्परा की विश्वदृष्टि का एक आधारभूत मौलिक पहलु यह है कि समस्त सृष्टि ही अपने आप में एक समग्र नैतिक–व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्रकृति की गतिशीलता कोई अस्त–व्यस्त और बेमेल स्वच्छंदता नहीं बल्कि उसमें एक लय और छंदबद्धता है। ऋत्, सत्य और यज्ञ की वैदिक अवधारणा के मूल में यही दृष्टि रही है। ऋत् ही विश्व–व्यवस्था का नियामक और धारक है। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, उद्‌भिज, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, देवता और तीनों भुवन, यहाँ तक कि ऋतुएँ भी ऋत् से ही अधिशासित होकर अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में नियोजित हैं। धर्म के विधि–निषेध और नैतिक विधान भी ऋत् की सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्ति है। भारतीय ज्ञान–परम्परा में मुनष्य के आचार और व्यवहार, सामाजिक सम्बन्ध और कर्तव्य न तो उसकी निरंकुश इच्छा पर निर्भर है, न ही कार्यकारणात्क प्रवृत्तियों से जनित हैं और न वे ऐतिहासिक संयोग से उत्पन्न हैं। आचार और व्यवहार के आदर्श प्रतिमान अन्ततः ऋत् में ही गोपित हैं जो मनुष्य के हृदय में प्रकाशित और शिष्ट परम्परा से सुनिश्चित होते हैं। इसीलिए 'ऋतम्भराप्रज्ञा' अर्थात् ऋत् को धारण करने वाली, उसके साथ प्रचोदनात्मक सम्बन्ध में रहने वाली प्रज्ञा को मानव–बुद्धि का आदर्श माना गया है (धीयोयोनःप्रचोदयात्)। ऋग्वेद के सर्वाधिक निगुढ़ मंत्र 'गायत्री' का निहितार्थ भी यही है कि मनुष्य की बुद्धि ऋतानुगामी हो, ऋत् और मानवीय बुद्धि में प्रेरक–प्रेर्य भाव हो। इसी विश्वदृष्टि को ध्यान में रखते

हुए आर्ष संस्कृति का जीवनादर्श 'देवो भूत्वा देवं यजेत'के रूप में निरूपित हुआ है। मनुष्य द्वारा देवयजन का उद्देश्य देव बनना है, क्योंकि देवता ऋत् का उल्लंघन नहीं करते, जबकि साधारण चेतना के धरातल पर मनुष्य ऋत् का उल्लंघन भी करता है। अनेकों वैदिक ऋचाओं में ऋत् के उल्लंघन से उत्पन्न पाप के लिए वरुण देव से क्षमा–याचना करते हुए मनुष्य को देखा जा सकता है।

भारतीय ज्ञान–परम्परा की विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं अपितु न्यासी माना जाता। मनुष्य भी चराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज एक प्राणी ही है। इसलिए यह मानव–केन्द्रित (एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक) नहीं अपितु चराचर–केन्द्रित विश्वदृष्टि है। इस विश्वदृष्टि में मनुष्य की अवधारणा 'प्रकृतिजयी' रूप में अवधारित न होकर 'आत्मजयी' रूप में साकार हुई है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाईबिल (गौड हैज क्रियेटिड मैन इन इट्स मिनी इमेज टू रूल ओवर अर्थ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृतिजयी मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है। यही वह अन्तर है जिसके चलते इतिहास की भारतीय दृष्टि मानव और मानवीय अतीत की अवधारणा के घेरे में बन्धी नहीं रह जाती, बल्कि समस्त चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आश्चर्य है कि यूरोप द्वारा विकसित विज्ञान जो माइण्ड एण्ड मैटर, मनुष्य और प्रकृति के अन्तहीन द्वैत पर आधारित है और यूरोप जिसे अपने गौरव की ललाभूत उपलब्धि मानता है, वह आज तक इस विशाल, जीवन्त और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से ''आत्मीय सम्प्रेषण'' की भाषा खोजने में असफल रही है। वस्तुतः मानवीय संसार का मानवेतर संसार से अलगाव–दुराव यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है, जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर अलगाव–दुराव में विक्षिप्तता के बीज होते हैं और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे पनपने न दिया जाए। इस अलगाव–दुराव से यूरोपीय आत्मा की लहू–लुहान विक्षप्तता ही होल्डरीन और रिल्के की काव्य और कलाकृतियों में दिखाई पड़ती है।

इसके विपरीत भारतीय जीवन–दृष्टि को इस अलगाव–दुराव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने मानवेतर संसार से कभी अपने मिथकीय सम्बन्धों को त्यागा नहीं। सचमुच उस जीवन–दृष्टि के लिए इस अलगाव–दुराव पर विश्वास करना ही मुश्किल है जिसमें जीवन के एक रूप

से दूसरे रूप के बीच पुनर्जन्मों और कायान्तरों की एक अटूट श्रृंखला है और जहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी हुई है। भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय और मानवेतर संसार के बीच के सम्बन्धों के रहस्यों को खोलने के बहुविध प्रयास किए एक हैं। ''देवो भूत्वा देवं यजेत्'' से लेकर ''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' के आदर्श में यही भाव गहरे में प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए अपने जीवन में ऋणत्रय (पितृ–ऋण, ऋषि–ऋण और देव–ऋण) को चुकाना और प्रतिदिन पञ्च महायज्ञों (भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ) का कर्त्तव्य विधान मानवीय संसार और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीय सम्बन्ध बनाए रखने का ही विधान है। इस भारतीय दृष्टि का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उचित ही कहा गया है कि ''प्रकृति रहस्यपूर्ण है, जैसा कि हर अन्य सत्ता होती है, लेकिन उससे आतंकित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि वह मनुष्य का एक अंश भी है – मानवीय प्रकृति, उसका स्व–स्वभाव।'' वास्तव में देखा जाए तो यूरोप ने सर्वप्रथम प्रकृति को ही ''अन्य'' के रूप में देखा है और इसी कारण वहाँ एक ऐसे विज्ञान का विकास हुआ जिसका लक्ष्य प्रकृति को समझना नहीं, बल्कि प्रकृति को इस तरह समझना है ताकि उसे मनुष्य की देह–वासना के हित में बदला जा सके। अन्यथा प्रकृति की आत्मीय समझ के आधार पर किसी भिन्न प्रकार के विज्ञान की भी कल्पना की जा सकती है। ऐतरेय उपनिषद् (1/4) में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आन्तर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि –

**अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्रविशत्। दिशः श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिवनस्पतयो भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनोभूत्वा ह्रदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत्।**

भागवत पुराण में भी इस चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि –अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गुनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्।

लेविस्त्रास ने भारतीय परम्परा के ऐसे ही मिथकीय स्रोतों को पूर्वी संस्कृतियों के सम्पर्क सूत्र (एंकर प्वायंट्स ऑफ ईस्टर्न कल्चर) कहा है।

इसे पश्चिमी मन का अहंकार कहा जाए या दम्भ कि वह पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने परिष्कार के लिए कभी तैयार नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय और यूरोपीय सभ्यता की तुलना करते हुए उचित ही कहा है कि एशिया की सम्पूर्ण सभ्यता का विकास प्रथमतः बड़ी नदियों के समीप के मैदानों और उपजाऊ भूमियों में – गंगा यांगसीकियांग और यूफ्रेटिज निदियों के कछारों में हुआ। इन सभ्यताओं का मूल आधार कृषिकर्म ही है, और इन सब में दैवी प्रकृति की प्रधानता है। एतद्विपरीत, अधिकांश यूरोपीय सभ्यता का उद्‌भव पर्वत–प्रदेशों या समुद्र–तटों में हुआ है – जल और स्थल में लूटमार ही इस सभ्यता का आधार है, उसमें आसुरी प्रकृति की प्रधानता है। अतएव यूरोपीय सभ्यता की तुलना उस वस्त्रखण्ड से की जा सकती है, जो इन उपादानों से बना है – उसे बुनने का ''करघा'' समुद्रतट का विस्तृत समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश है; उसकी ''रुई'' विभिन्न जातियों की वर्णसंकरता से उत्पन्न प्रबल युद्धप्रिय जाति है; उसका ''ताना'' अपने शरीर और अपने धर्म की रक्षा के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध है... और उसका ''बाना'' वाणिज्य है। उस सभ्यता का साधन तलवार है; उसके सहायक – साहस और शक्ति; और उसक उद्‌देश्य ऐहिक और पारलौकिक सुखोपभोग है। इसके विपरीत आर्य–सभ्यता रूपी वस्त्र का ''करघा'' विस्तृत गरम, समधरातल प्रदेश है, जिसमें स्थान–स्थान पर चौड़ी, जहाज चलने लायक निदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। इस वस्त्र की ''रुई'' है अतिसभ्य, अर्द्धसभ्य और जंगली जातियाँ, जिनमें अधिकांश आर्य हैं। उसका ''ताना'' है वर्णाश्रम–धर्म और उसका ''बाना'' है प्रकृतिगत कलह और प्रतियोगिता पर विजय–प्राप्ति। यूरोप निवासियों का उद्‌देश्य है अपने जीने के लिए अन्य सबका अन्त कर देना, और आर्यों का उद्‌देश्य है सभी को ऊपर उठाकर अपने समकक्ष बनाना; यही नहीं; बल्कि अपने से भी ऊँचे स्तर पर पहुँचाना।

**उपसंहार**

इस प्रकार भारतीय ज्ञान–परम्परा और उसकी समवेत विश्वदृष्टि की रूपरेखा का उपसंहार करते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान–परम्परा का विनियोग एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति में हुआ है जिसके लिए उन सभी मानव प्रवृत्तियों (ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद–मत्सरादि) से भी मुक्तिकाम्य है जिन्हें आधुनिक सभ्यता और सामजिक डार्विनवाद न्यूनाधिक रूप से मानव–स्वभाव अथवा मनुष्य का

सत्य समझती है। आधुनिक सभ्यता जो आज विश्वसभ्यता का रूप धारण करती जा रही है वह मानव–सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई दुनिया की तमाम सभ्यताओं में अग्रगण्य है तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति आज इसी 'ऐन्द्रिक सभ्यता' की ज्ञानमीमांसा को अपने ऊपर उत्तरोत्तर आरोपित करती जा रही है। इसके बावजूद भी भारतीय ज्ञान–परम्परा की दीप्ति अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है और भारतीय संस्कृति की मूल्य चेतना से उसकी संलग्नता अभी भी प्राणवंत है। ऐसा भी नहीं कि इसके अभिव्यक्ति पक्ष में समय–समय पर विकार उत्पन्न न हुए हों, जैसा कि किसी भी ज्ञान–परम्परा के गतिशील जीवन में स्वाभाविक ही होता है। परन्तु भारतीय ज्ञान–परम्परा में अपने विकारों के परिमार्जन की आत्मचेतना सदैव प्रज्ज्वलित रही है। अपने अभिव्यक्ति पक्ष में आक्षिप्त हुए विकारों को अपना स्वरूप समझने की भूल भारतीय ज्ञान–परम्परा ने कभी नहीं की है। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक सदैव भारतीय समाज और संस्कृति में आक्षिप्त हुए विकारों को प्रक्षालित करने वाले स्वर भारतीय ज्ञान–परम्परा के अन्दर से ही उठते रहे हैं और प्रभावकारी भी रहे हैं। मूलगामी रूप से भारतीय ज्ञान–परम्परा का जिस सभ्यता और संस्कृति में विनियोग हुआ है और जिसे हम भारतीय सभ्यता और संस्कृति कहते हैं उसका भौगोलिक परिक्षेत्र भोग–भूमि नहीं अपितु योग–भूमि है। वह सभ्यता ज्ञानकेन्द्रित है, संस्कृति मूल्याधारित है, समाज धर्म केन्द्रित/कर्त्तव्य केन्द्रित है और वह समवेत रूप से चैतन्य की एकात्मता से आपूरित है।

**दर्शनशास्त्र विभाग**
**डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय**
**सागर (म.प्र.) - 470003**

# आधुनिकता की अद्वैतवादी समालोचना*


**अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वनाथ मिश्र**


प्रायः प्रत्येक सभ्यताओं और धार्मिक सम्प्रदायों के द्वारा आधुनिकता की समालोचना और उसकी तरफदारी के प्रयास में विपुल साहित्य की रचना की गई है। ऐसे ही प्रयास उदारवाद, मार्क्सवाद, नारीवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद, पर्यावरणवाद, अस्तित्ववाद, उत्तर–उपनिवेशवाद, और प्राच्यवाद जैसे विचार सम्प्रदायों की ओर से भी हुए हैं। आधुनिकता के सन्दर्भ में इस तरह की अंतर–वैचारिक और अंतरा–वैचारिक विभाजन के कारण यह सुनिश्चित करना आसान नहीं है कि एक विचार–सरणी के भीतर आधुनिकता के प्रति क्या धारणा है। फिर भी, जो दो सामान्य तथ्य इन सभी विचार–सरणियों में आधुनिकता के समर्थन में देखी जा सकती है वह यह है कि प्रायः यह सभी आधुनिकता को एक सतत् प्रक्रिया के रूप में मान्यता देते हैं जो मानव अस्तित्व के साथ–साथ ही विकसित होती है तथा यह कि आधुनिकता पश्चिमीकरण नहीं है। इस तरह की विचार–सरणियों की एक तार्किक परिणति यह भी है कि इन सबको उद्विकासवाद की इस मान्यता को स्वीकार करना चाहिए कि पृथ्वी पर मानव का उद्‌गम अनेक स्थानों पर अलग–अलग हुआ। परन्तु, उन्होंने जिस तरह से जीवन की शुरुआत की उनमें परस्पर एकरूपता जैसे तत्त्वों के कारण उनकी एक जैसी आवश्यकताएँ और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका एक समान मानसिक विन्यास था। यह एक ऐसी स्वीकारोक्ति बन जाती है जो उद्‌विकासवाद पर आधारित आधुनिकता को लेवी स्ट्रास की धरती पर ले जाकर खड़ी कर देती है।


**उन्मीलन – वर्ष 38, अंक 1, जनवरी–जून 2024**

**ISSN-0974-0053**

U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310


*यह आलेख आचार्य शंकर सांस्कृतिक एकता न्यास, संस्कृति विभाग, मध्य–प्रदेश शासन के द्वारा प्रदत्त 'शंकर फैलोशिप' के अन्तर्गत किए जा रहे शोध–कार्य का एक अंश है।

लेवी स्ट्रास की यह मान्यता रही है कि मनुष्य का मानसिक साँचा सार्वभौमिक रूप से एक ही जैसा है। इस मानसिक साँचे के प्रभाव से मनुष्य द्विपदीय विपरीतार्थक दृष्टि से सोचता,समझता और भाषा व्यवहार तथा नातेदारी इत्यादि की रचना करता है। इस क्रम में एक–समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वत्र एक–समान व्यवहार करता है और इसी कारण दुनिया भर में अलग–अलग स्थानों पर जो संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं उनमें आरम्भ में आपसी सम्पर्क न होने पर भी अनेक समानताएँ देखी जा सकती हैं।[1] आगे चलकर जब आधुनिकता पर अनेक तरह के आक्षेप लगने लगे और साथ ही आर्थिक विकास के औद्योगिक प्रारूप के चलते आधुनिकता अपरिहार्य भी होती गई, तब पश्चिमी एवं गैर–पश्चिमी आधुनिकता के मध्य अंतर करने की एक कवायद भी शुरू हुई। इसने यह तर्क प्रस्तावित किया कि हर परम्परा की अपनी आधुनिकता की एक धारा होती है जिसका पश्चिमी आधुनिकता के अनुकरण से कोई संबंध नहीं होता है। तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह यह प्रश्न आधुनिकता को समझने का एशेन्शियल बनाम प्रोसेस मॉडर्निटी का संदर्भ है और इन दोनों के ही तर्क संरचनावाद से लिए जा सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि लेवी स्ट्रास एक संरचनावादी विचारक हैं और संरचनावाद आज भी उस आरोप से मुक्त नहीं है जो उस पर उपनिवेशवादी विचार होने का लगता रहा है। वस्तुतः संरचनावाद मानवता को सेल्फ और अदर में ही विभाजित नहीं किया बल्कि इसने सेल्फ जो कि पश्चिम है; उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए शोषण को भी वैध मान लेने की तरफदारी भी की। संभव है कि यह बात समग्र रूप से सही न लगे किन्तु लेविनास जब यह कहते हैं कि पश्चिम की समग्रता में सब्जेक्टिव टोटैलिटी है तब इस सब्जेक्टिविटी में पश्चिम की जातीयता को समाविष्ट देखा जाना संभव हो ही जाता है।[2] इसके समर्थन में जब 'ह्यूमेनिज्म ऑफ द अदर' जैसी रचनाएँ भी शामिल होती हैं तब इस परिचर्चा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।[3] इसका निहितार्थ प्रस्तुत सन्दर्भ में यह है कि क्या हम मानव उद्विकास के साथ ही आधुनिकता को संदर्भित मानते हुए द्विपदीय विपरीतार्थक को नकारे बिना आज किस तरह से आधुनिकता की प्राचीनता को मानव उद्विकास में देख सकते हैं। इसके दो रास्ते संभव हैं – एक तो यह कि हम कोई ऐसी सभ्यता का उदाहरण खोजें जो आधुनिक भी हो (काल की दृष्टि

से नहीं) और जो द्विपदीय विपरीतार्थक के दुष्प्रभाव से ग्रसित भी न हो और दूसरा यह कि हम गैर–पश्चिमी सभ्यताओं के आधुनिकीकरण की उन प्रक्रियाओं को खोजें जो उनकी परम्पराओं के साथ समायोजन के क्रम में परम्पराओं के मूल्यबोध को अक्षुण्ण रहने दिया हो। इस तथ्य को हम ऐसे भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमें यह खोजना होगा कि गैर–पश्चिमी संस्कृतियों या गैर–इसाई धर्मों ने आधुनिकता के मूल तत्त्वों यथा साइंटिफिक टेम्पर, लौकिकतावाद, उद्योगवाद, उपभोक्तावाद और व्यक्तिवादिता को किस प्रकार प्रभावित किया है। यह भी कि इन सबने मिलकर गैर–पश्चिमी संस्कृतियों और धर्मों में अपने कलेवर को जितना समावेशित कर दिया उतने ही वे अपनी–अपनी सांस्कृतिक निजता से बहिर्वेशित हो गए हैं।

हम यहाँ जापान का एक उदाहरण ले सकते हैं। लगभग छठी शताब्दी से जापान में बौद्ध धर्म प्रविष्ट हुआ और महायुद्ध तक यह आधी आबादी का धर्म हो गया। मेजी युग से जापान का आधुनिकीकरण विशेष रूप से जुड़ा हुआ है जो आगे भी चलता रहा। इस पुरे काल–खंड में जहाँ जापान में बौद्ध धर्म का विस्तार होता रहा वहीं जापान में उद्योगवाद और सैन्यवाद भी विकसित होते रहे। ऐसी स्थिति में यह समझना जरुरी है कि इस पूरे उपक्रम में जापान का बौद्ध धर्म उद्योगवाद और सैन्यवाद में अपने मूल सिद्धांत चार आर्य सत्य और आष्टांगिक मार्ग को क्या जोड़ पाया ? क्या चार आर्य सत्य में दुःख के कारण और उसके निदान की जो अभीप्सा है, उसकी किसी भी दृष्टि से व्याख्या करने से यह संसिद्ध हो सकता है कि इस दुःख के कारण का निदान उद्योगवाद और सैन्यवाद से संभव है ? वस्तुतः ऐसा किया जाना न तो अभीष्ट और न ही तार्किक है। परन्तु जब हम जापान की आधुनिकता और बौद्ध धर्म के संदर्भ में संबंधों की पड़ताल करने के लिए अध्ययन सामग्री का संकलन करना चाहें तब हमारे समक्ष अनेक स्रोत भी उपलब्ध रहते हैं।[4] इन अन्वेषणों की एक विशेष शैली और तार्किकता होती है। मसलन जापान के प्रस्तुत उदाहरण में ही बौद्ध धर्म ने जापान में सामाजिक सुधार के क्षेत्र में जो योगदान दिया उसे आधुनिकीकरण के लिए विवेकीकरण की पूर्व–पीठिका के रूप में देखा जाता है। एक हद तक यह सही भी है किन्तु यह उस हद तक ही सही है जहाँ तक विवेकीकरण की प्राप्यता मानवतावाद है। अब यदि मानवतावाद को आधुनिकतावाद की ही एक देन मान लिया जाए तो भले ही आधुनिकतावाद थोड़ी देर के लिए

अपना बचाव कर ले, किन्तु एक वास्तवकिता यह भी है कि आधुनिकतावाद ने मानवतावाद को अपने विस्तार का हथियार जितना बनाया है उतना ही इसे धरती पर व्यवहार में उतारने का प्रयास नहीं किया है।

अपने भारतवर्ष में भी अनेक विभूतियों ने इस प्रकार के उपक्रम किए हैं जिनमें वेदांत और आधुनिकता अथवा वेदांत और विज्ञान के अंतर्संबंध को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। ऐसे विचारों और साहित्यों में एक तथ्य जिसे अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है वह है स्वामी विवेकानंद का शिकागो भाषण। साथ ही ऐसे विचारों की प्रभावना दिखाने में निकोला टेस्ला पर स्वामी विवेकानंद के प्रभाव की भी चर्चा की जाती है।[5] यहाँ आगे बढ़ने से पहले शिकागो में स्वामी विवेकानंद के उस भाषण का उल्लेख आवश्यक है। स्वामीजी ने कहा था कि विज्ञान के अद्यतन खोज आज वेदांत के परम सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। मैं आज विज्ञान की खोजों से यह जान गया हूँ कि भौतिक व्यक्तिवादिता एक भ्रम है, मेरा परिवर्तनशील शरीर मात्र एक अनवरत अखंड इकाई का लघु अंश मात्र है। अद्वैत ही मेरी आत्मसत्ता का परमतत्त्व है।

यहाँ ध्यातव्य है कि आचार्य शंकर ने या विवेकानंद ने या किसी भी योगी ने यदि परमतत्त्व का अन्वेषण किया तो वह परमतत्त्व एक पूर्ण इकाई ही होती है। पूर्णता के आभाव में परमतत्त्व की परिकल्पना संभव नहीं है। ऐसे में क्या यह उचित होगा कि हम भौतिकरूप से प्रयोगशाला में सत्यापनीय पूर्णतत्त्व की योगदृष्ट पूर्णतत्त्व से तुलना करके दोनों को समान मान लें। वस्तुतः इन दोनों के मध्य वैसा ही अंतर है जैसा अंतर वायुयान में बैठकर उड़ जाने और योगविद्या से गगनचारी हो जाने में है। यहाँ यह भी ध्यान रखने की जरुरत है कि यदि हम योगविद्याओं में निहित अथवा सनातन साहित्य में उपलब्ध गगनचारिता के कथानकों की तुलना आज के वायुयान शास्त्र से करते हैं तब हम आध्यात्मिकता पर वैज्ञानिकता को ही वरीयता प्रदान कर रहे होते हैं। क्योंकि, जिनपर वायुयान शास्त्र की वैज्ञानिकता के आधार पर उड़ जाने के प्रदर्शन का दायित्व है वे तो हर बार सफल होकर दिखा सकते हैं किन्तु जिनपर योगविद्याओं में निहित अथवा सनातन साहित्य में उपलब्ध गगनचारिता के प्रदर्शन का दायित्व है वे ऐसा नहीं कर पाते हैं।

यहाँ एक अवांतर किन्तु महत्त्वपूर्ण साक्ष्य पर भी विचार कर लेना

समीचीन होगा। वह यह कि धार्मिक मतों की वैज्ञानिकता पर चर्चा की राजनीति और उसका भूगोल क्या है और क्यों यह चर्चा मैक्स वेबर द्वारा 1904 में 'प्रोटेस्टेंट एथिक्स एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' के लिखे जाने के बाद दुनिया भर में एक ऐसा प्रतिदर्श बनकर उभरा जिसके आईने में सभी अपना चेहरा देखना चाह तो रहे थे; किन्तु उस आईने के द्वारा जिस बिम्ब को प्रतिवर्तित किया जा रहा था उससे क्षुब्ध भी थे। वस्तुतः मल्टीप्ल मॉडर्निटी का ताना–बाना इस तंतु के साथ मजबूती से जुड़ा है। इसकी एक निष्पत्ति यह है कि उपनिवेशवाद, शोषण, पर्यावरण प्रदूषण, अतिशय उद्योगवाद, अतिशय उपभोक्तावाद और पारम्परिक जीवन मूल्यों की सहचारिता के साथ भी आधुनिकता संभव है, किन्तु इस अभिमत को कोई भी पारंपरिक तत्त्वदर्शी स्वीकार नहीं करना चाहता है। इसके विपरीत वह यह दावा करना चाहेगा कि पारंपरिक जीवन मूल्यों में विकास जन्य आधुनिकता तो है पर उसमें उपनिवेशवाद, शोषण, पर्यावरण प्रदूषण एवं अतिशय उपभोगवाद के लिए जगह नहीं है। तात्पर्य यह कि पारंपरिक तत्त्वदर्शी यह स्वीकार करेगा कि परम्परा में शहरीकरण, उद्योग और तकनीकी प्रगति का पोषण तो है पर वे सब व्यक्ति और समाज की अणुवादी अवधारणा की विकृतियों से मुक्त हैं। उदाहरण के लिए रावण की लंका समृद्धि, उपभोग और शहरीकरण के विवरणों के साथ विकृति सूचक विशेषणों से भरी पड़ी है; पर कुबेर की अलकापुरी में समृद्धि, उपभोग, शहरीकरण के साथ सुनीति सूचक विशेषण जोड़े गए हैं। एक दुसरे दृष्टान्त के माध्यम से भी नीति, समृद्धि, विकास और आधुनिकता तथा कुनीति, समृद्धि, विकास और आधुनिकता तथा परम्परा के साथ इनके संवाद को समझा जा सकता है। महाभारत के मंतव्यों की अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं, किन्तु महाभारत के ही एक महावाक्य 'अहिंसा परमो धर्मः' को आधार बनाया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि समृद्धि, अतिशय उपभोगवाद, तकनीकी विकास, युद्ध कौशल में तकनीक का समावेश आदि मिलकर दंभ और अहंकार को भी जन्म देते हैं और इससे मूल्यबोध वाले साहचर्य का विनाश भी होता है। महाभारत यह शिक्षा देता है कि परम्परा से चली आ रही जीवन–मूल्यों की रक्षा के लिए दंभ और अहंकार के आर्थिक, तकनीकी समृद्धि और इन पर आधारित सामूहिक जीवन के स्रोतों का ही विनाश करना आवश्यक हो जाता है।[6] इसी तरह अनेक कथानकों में तकनीकी श्रेष्ठता वाले पक्ष को तकनीकी

में कुछ कमतर किन्तु मानवीय मूल्यबोध युक्त नायक से पराभूत होते दिखाया गया है। धर्म की स्थापना के हर सनातन कथानकों में तकनीक का दंभ जिसे हम आधुनिकता की एक प्रवृत्ति मान सकते हैं, हार हुई है। अतः वेदान्त के द्वारा आधुनिकता की किस प्रवृत्ति का खंडन हो सकता है और किस प्रवृत्ति का मंडन हो सकता है, यह स्पष्ट करने से पहले आधुनिकता के सार को समझ लेना आवश्यक है।

**आधुनिकता एवं आधुनिकतावाद**

आधुनिकता एवं आधुनिकतावाद को सैकड़ों ख्यातिलब्ध विद्वानों ने परिभाषित किया है और इसके गुण एवं दोषों को समझने की कोशिश की है। कुछ ने इसे उन संरचनाओं के आधार पर पहचानने की कोशिश की है जो यूरोप में ज्ञानोदय के बाद सामंतवादी व्यवस्था के पतन और उदीयमान पूँजीवाद की पृष्ठभूमि में विकसित हुई हैं। ऐसी परिभाषाओं में कृष्ण कुमार की परिभाषा उल्लेखनीय है। उनका अभिमत यह है कि आधुनिक समाज औद्योगिक समाज है। आधुनिकीकरण का अर्थ औद्योगीकरण करना है। आधुनिकता को कोई अन्य अर्थ देना संभव हो सकता है, लेकिन ऐसा करना विकृत और भ्रामक होगा। ऐतिहासिक रूप से, आधुनिक समाज का उदय आंतरिक रूप से औद्योगिक समाज के उदय से जुड़ा हुआ है। वे सभी विशेषताएँ जिन्हें हम आधुनिकता से जोड़ते हैं, उन परिवर्तनों के समूह से संबंधित दिखाई जा सकती हैं, जो एक सदी से भी अधिक समय में समाज के औद्योगिक प्रकार के रूप में विकसित हो गए।[7] कुछ विद्वानों ने तार्किकता, नए तरह के कार्य विभाजन एवं विशेषीकरण के महत्त्व को आधुनिकता के मूल में रखते हुए इसे परिभाषित किया है। उदाहरण के लिए माईक फीदरस्टोन ने पश्चिमी ज्ञानोदय, पूँजीवाद, उद्योगवाद से जोड़ते हुए आधुनिकता को सामन्तवादी प्रणाली को अस्वीकार करके तार्किकता (विवेकशीलता) एवं कार्यविभाजन तथा कार्य विशेषीकरण की एक नवीन व्यवस्था कहा है।[8] उल्लेखनीय है कि पार्सन्स ने भी संरचनात्मक विभेदीकरण के रूप में आधुनिकता के प्रभाव का मूल्याँकन करते हुए इसे परिभाषित किया है। आधुनिकता ने व्यक्तिवादिता को भी प्रचूर मात्रा में बढ़ावा दिया है और जॉन हैलोवल ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आधुनिकता को परिभाषित किया है।[9]

आधुनिकता वस्तुतः यंत्रवाद, उद्योगवाद, शहरीकरण, व्यक्तिवाद,

उपभोगवाद, भौतिकतावाद और विज्ञानवाद के सहारे आती है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इन सबके परिणाम स्वरूप जो जीवन–दृष्टि विकसित होती है उसे आधुनिकता कहा जाता है। इस जीवन–दृष्टि की ज्ञानमीमांसा के स्रोत प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद, व्यवहारवाद, उपयोगितावाद और उदारवाद जैसे विचार संप्रदायों में सन्निहित हैं। आधुनिकता के इन समस्त अभिप्रेरकों की परिणति सेकुलरवाद या सेकुलराइजेशन में हो ही जाती है। इसी कारण आधुनिकता को सेकुलराइजेशन के रूप में भी परिभाषित किया जाता है।[10] सेकुलराइजेशन आधुनिकता का परिणाम भी है और यह आधुनिकता का संवाहक भी है। यद्यपि सेकुलराइजेशन और आधुनिकता को अलग–अलग बताने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है किन्तु इस प्रवृत्ति के पीछे मल्टीपल मॉडर्निटी का विचार भी कार्य कर रहा होता है। मल्टीपल मॉडर्निटी[11] का विचार देशज आधुनिकता की बात करते हुए आधुनिकता में निहित सेकुलराइजेशन को खारिज करने के लिए भी सेकुलराइजेशन और आधुनिकता को अलग–अलग बताने का तर्क गढ़ती है। जबकि, वास्तविकता यह भी है कि आधुनिकीकरण के किसी भी प्रयास के परिणामस्वरूप देवत्व का संचार मनुष्य में बढ़ा हो और उसकी चेतना से मानवीय दुर्बलताओं का लोप हो गया हो; यह प्रदर्शित नहीं किया जा साथ है। इसके इतर आधुनिकता के प्रभाव से पर्यावरणीय विध्वंस, परायेपन, स्वार्थपरायणता, अभिशप्त अदरनेश आदि को बढ़ते हुए अवश्य दिखाया जा सकता है।

वस्तुतः सेकुलराइजेशन और आधुनिकता को अलग–अलग बताने की प्रवृत्ति को हम धर्मों के आधुनिकीकरण के संदर्भ में यदि समझ लें तो सेकुलराइजेशन और आधुनिकता के अंतरसंबंधों को ठीक से पहचान पायेंगें। धर्मों के आधुनिकीकरण का संबंध धर्मों के विवेकीकरण से है जो रुढ़ियों के निवारण, आस्था के समावेशीकरण, कर्मकांडों के सरलीकरण, धर्मसत्ता के लोकतंत्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण आदि के रूप में प्रकट होता है। यह वास्तव में धर्म का धर्मीकरण है किन्तु अनुकरण के अभ्यासवश हम इसे धर्म का आधुनिकीकरण कह देते हैं और इससे यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि आधुनिकीकरण या आधुनिकता नॉन सेकुलर भी हो सकती है। अब यदि इस गुत्थी को हम यूरोप के समीकरण में ही समझ लें तो हमारी दृष्टि और भी स्पष्ट हो सकती है। यूरोप में ज्ञानोदय के समय से उभर रही आधुनिकता

के लिए धर्मों के आधुनिकीकरण के लिए तीन रास्ते हो सकते थे – पहला बहुदेववाद, दूसरा कैथोलिक और तीसरा प्रोटेस्टेंट। इन तीनों रास्तों में यदि प्रोटेस्टेंट रास्ता अधिक प्रभावी हुआ और बहुदेववादी मार्ग सबसे कमजोर हुआ तो इसके कुछ मायने हैं। वह यह कि आधुनिकता धर्मों के आधुनिकीकरण के मामले में विवेकीकरण तक ही सीमित नहीं है अपितु यह धर्मों के निर्दैवीकरण की ओर भी गतिशील है। इसका कारण आस्था के प्रश्नों का विज्ञान के तर्कों और आगे बढ़ते हुए आस्था के प्रश्नों का तकनीकों से समाधान खोजने की प्रवृत्ति है; जो स्वयं आधुनिकता की ही एक प्रवृत्ति भी है। चूँकि यूरोप में आस्था के साथ यह समझौता प्रोटेस्टेंट मत ने सबसे अधिक किया इस नाते वही यूरोप में आधुनिकता और धर्म के गठजोड़ का प्रतीक भी बन गया।

इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटानिका ने भी आधुनिकता को परिभाषित करते हुए इसके सेकुलर चरित्र को ही अपेक्षाकृत अधिक मान्यता दिया है। इसमें लिखा कि विश्लेषण के सबसे अमूर्त स्तर पर आधुनिकीकरण उस ओर ले जाता है जिसे मैक्स वेबर ने ''दुनिया का मोहभंग'' कहा है। यह सभी अलौकिक और अलौकिक शक्तियों, देवताओं और आत्माओं पर सवाल उठाता है, जिनके साथ गैर–औद्योगिक संस्कृतियाँ ब्रह्मांड को आबाद करती हैं और जिन्हें वे प्राकृतिक और सामाजिक दुनिया की घटनाओं के लिए जिम्मेदार मानते हैं। उनके स्थान पर यह एक प्रतिस्पर्धी ब्रह्माण्ड विज्ञान के रूप में प्रकृति की आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्या का परिचय देता है जिसके द्वारा केवल वैज्ञानिक पद्धति द्वारा खोजे गए कानूनों और नियमितताओं को घटना की वैध व्याख्या के रूप में स्वीकार किया जाता है। यदि बारिश होती है, या नहीं होती है, तो इसका कारण यह नहीं है कि देवता नाराज हैं, बल्कि यह वायुमंडलीय परिस्थितियों के कारण है, जैसा कि बैरोमीटर द्वारा मापा जाता है और उपग्रहों द्वारा फोटो खींचा जाता है।[12]

इससे भी आगे बढ़कर ब्रिटानिका आधुनिकता की अपनी समझ को अपने विश्लेषण में भी जोड़ता है – संक्षेप में, आधुनिकीकरण में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया शामिल है; अर्थात्, यह धार्मिक संस्थानों, विश्वासों और प्रथाओं को व्यवस्थित रूप से चुनौती देता है, उनके स्थान पर तर्क और विज्ञान को प्रतिस्थापित करता है। यह प्रक्रिया पहली बार 17वीं शताब्दी के अंत में ईसाई यूरोप में देखी गई थी। (यह संभव है कि ईसाई धर्म

के बारे में स्वाभाविक रूप से कुछ धर्मनिरपेक्षता है, क्योंकि कोई भी अन्य धर्म धर्मनिरपेक्ष मान्यताओं को सहजता से जन्म नहीं देता है)। एक बार यूरोप में, विशेष रूप से प्रोटेस्टेंट यूरोप में आविष्कार होने के बाद, धर्मनिरपेक्षीकरण को ''पैकेज'' के हिस्से के रूप में ले जाया गया था। उद्योगवाद का जो गैर–यूरोपीय विश्व को निर्यात किया गया था। जहाँ भी आधुनिक यूरोपीय संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है, उन्होंने धर्मनिरपेक्षता की धाराओं को पारंपरिक धर्मों और गैर–तर्कसंगत विचारधाराओं में फैला दिया है।[13]

## आधुनिकता की वेदान्तिक समालोचना

सनातन परम्परा के ग्रंथों में अधुना शब्द का उल्लेख मिल जाता है जो अद्यतन के अर्थ में है। सीमित मात्रा में आधुनिक शब्द का भी उल्लेख मिलता है और इन दोनों के लिए नव्य शब्द का उल्लेख भी हुआ है। आंग्ल साहित्य में भी आधुनिक शब्द के उल्लेख की शुरुआत पंद्रहवीं शताब्दी के आस–पास माना जाता है। मेरियम वेब्स्टर डिक्शनरी के अनुसार आधुनिक शब्द का आंग्ल भाषा में प्रयोग 1585 में हुआ और तब यह अद्यतन के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था।[14] अद्यतन होने और आधुनिक होने में फर्क है। वेद विहित दर्शनों एवं धर्मों का अद्यतन रूप वेदांत को कहा जा सकता है किन्तु वेदांत को वेदों का आधुनिक रुप कहना गलत होगा। अद्यनता में प्राचीनता को छोड़ना शामिल नहीं है किन्तु आधुनिकता प्राचीनता से मोहभंग है।

आधुनिकता को जब हम 'डिसइन्चिंटमेंट प्रोजेक्ट' अर्थात् 'मोहभंग की कार्ययोजना' के रूप में देखते हैं तब यह मोहभंग समय को एक टेम्पोरल यूनिट के रूप में स्वीकार किए बिना घटित नहीं होता है। यदि समय को एक ट्रांसेंडेंटल यूनिट या अखंड इकाई मान लिया जाय तब समय का विभाजन संभव नहीं है। जब हम इस काल और उस काल के मध्य विभाजन नहीं कर सकते तब इस काल अथवा उस काल से अपने को काट भी नहीं सकते हैं और ऐसा किए बिना किसी काल से हमारा मोहभंग भी संभव नहीं है। आधुनिकता समय को एक टेम्पोरल यूनिट मानकर भले ही किसी काल विशेष से मोहभंग के दावे के साथ अपनी यात्रा शुरू करती हो किन्तु इससे समाज और जीवन का यथार्थ रातों–रात बदल नहीं जाता है। व्यवहार में भी हम आज आधुनिकता की दो सदी की यात्रा के बाद भी बहुत सी मध्ययुगीन कही जाने वाली जड़ताओं से लड़ ही रहे हैं। यही नहीं, आधुनिकता ने बहुत सारी मध्युगीन जड़ताओं और विशेषाधिकारों को नए रूप में प्रस्तुत कर

दिया है। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जिस आधुनिकता ने मनुष्य की स्वतंत्रता और मुक्ति के दावे के साथ अपनी यात्रा शुरू की थी उसी को अलबर्ट कामू मानवीय स्वतंत्रता के हनन के लिए कटघरे में खड़ा करते हैं और परम्परा की ओर आशा भरी निगाह से देखते हैं।[15] इसे वस्तुतः आधुनिकता का विपथगमन भी कहा जा सकता है जिसकी दूसरी अभिव्यक्ति हमें हॉब्सबाम[16] की पुस्तक 'द ऐज ऑफ एक्सट्रीम्स' में मिल जाती है। जहाँ हॉब्सबाम ने बिना किसी व्यापक प्रत्यक्ष युद्ध के महायुद्ध के बाद की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस कालखंड में जितने लोग दुनिया भर में हिंसा में मारे गए वह संख्या दोनों महायुद्धों में मारे गए लोगों की अपेक्षा अधिक है। जबकि,विगत शताब्दी में आठवें दशक से आरम्भ होने वाला यह काल आधुनिकता के परचम को लहराने का काल भी है। क्या यह स्वयं आधुनिकता से मोहभंग के लिए पर्याप्त नहीं है ? यदि नहीं तो इसमें तेजी से निकट आ रही डे जीरो, बढती हुई असमानता और पर्यावरणीय खतरों को भी शामिल कर लेते हैं। क्योंकि हैं तो यह सब आधुनिकता की ही देन और इन सबके मूल में निहित है व्यक्ति, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति आदि की गलत समझ। इस गलत समझ के मूल में एक ज्ञानभीमांसीय दुराग्रह विद्यमान है जिसका संबंध कालांतर में विकसित हुए डार्विनवाद[17] से है। डार्विनवाद में मनुष्य की जो परिभाषा बनती है, मनुष्य का वही स्वरूप मध्ययुगीन विसंगतियों के अनेक रूपों में भी विद्यमान है। इसकी पहचान अहंकार, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थ, शक्ति प्राप्ति के लिए हिंसा की लिप्सा आदि के रूप में की जा सकती है। जब आधुनिकता ने मोहभंग से अपने प्रोजेक्ट को शुरू किया और समय की टेम्पोरलिटी को स्वीकार किया तब इन डार्विनवादी मानवीय प्रवृत्तियों से भी मोहभंग होना आवश्यक था। किन्तु आधुनिकता ने ऐसा नहीं किया। इस दार्शनिक विचलन के क्या परिणाम हुए उसे हीगल के द्वारा गीता की की गई त्रुटिपूर्ण समीक्षा के माध्यम से समझा जा सकता है।

गीता पर निबन्ध लिखते हुए हीगल ने यह आक्षेप लगाया कि अर्जुन के प्रश्न समय को टेम्पोरल यूनिट मानकर किये गए हैं जबकि कृष्ण का उत्तर समय को एक अखंड और ट्रांसेंडेंटल यूनिट मानकर दिए गए हैं और इससे व्यावहारिक जगत् की समस्याओं का समाधान नहीं होता है। यह सत्य है कि वेदांत और गीता समय को एक अखंड और ट्रांसेंडेंटल यूनिट के

रूप में स्वीकार करता है। वेदांत का मत है – 'त्रिविधं आनन्त्यं देशतः कालतो वस्तुश्चेति'। एक अखंड सत्ता के रूप में ब्रह्म इन तीनों से परे है। स्वयं आचार्य शंकर ने जब गीता भाष्य लिखा तब भाष्य की शुरुआत उन्होंने प्रथम अध्याय और दुसरे अध्याय के दसवें श्लोक तक को छोड़ दिया। इसका एक कारण यह है कि इन श्लोकों की व्याख्या में वे कौरव और पांडव की प्रातिभासिक सत्ता को उनकी अंतिम सत्ता के रूप में पहचान नहीं करना चाहते थे। ऐसा करने से गीता के उपदेश शरीरधर्मी और देशज प्रवृत्ति के बनकर रह जाते। ऐसी किसी भी व्याख्या में समय की खंडित इकाई और उसकी लौकिकता के लक्ष्य को तो साधा जा सकता था किन्तु इससे गीता के उपदेश मानवता के लिए एक शाश्वत सन्देश न बन पाते बल्कि दो व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच निजी स्वार्थ हेतु संवाद बनकर रह जाते। इसी कारण कृष्ण ने अर्जुन के द्वारा समय को टेम्पोरेल यूनिट मानकर किये गए प्रश्नों का उत्तर समय को एक अखंड और ट्रांसेंडेंटल यूनिट मानकर दिया है।

अब यहाँ आधुनिकता की एक दूसरी विसंगति पर विचार कर लेते हैं। वह विसंगति यह है कि आधुनिकता मनुष्य, समाज, संस्कृति आदि की परिभाषा टेम्पोरल फ्रेमवर्क में करता है किन्तु पूरी मानव सभ्यता के लिए जो वह लक्ष्य रखता है उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आधुनिकता ने समय को एक अखंड और ट्रांसेंडेंटल यूनिट के रूप को स्वीकार कर लिया हो। यह एक तरह से आधुनिकता द्वारा प्रक्षेपित विज्ञानवाद का भी उल्लंघन है, क्योंकि यहाँ आधुनिकता के द्वारा प्रस्तावित आधार और निष्पत्ति में कोई कार्य–कारण संबंध नहीं है। आधुनिकता के इस ज्ञानमीमांसीय अंतराल के लिए अनुभववादी पद्धति को कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। वस्तुतः अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी पद्धति से हम जिन विशेषों के माध्यम से सामान्य गुण–धर्म की तलाश करते हैं वह सदैव सभ्यता निर्माण या सभ्यता दर्शन विकसित करने के लिए उपादेय हों यह आवश्यक नहीं है।

मानवता की साधना के लिए अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी पद्धति की एक सीमा है और वह है इनकी – टेम्पोरलिटी। यह टेम्पोरलिटी जगत् को चेतना के एक ही धरातल पर देखती है और वह धरातल है शरीरधर्मिता का धरातल। इस धरातल को वेदांत ने व्यावहारिक सत्ता का धरातल बताया है परन्तु इसके उपर की सत्ता को भी पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार

किया है। मानवीय मूल्यबोध, साहचर्य, सहयोग, त्याग, निष्ठा, प्रेम, यश प्राप्ति की आकांक्षा और स्वयं धर्म की निष्पत्ति के लिए वेदांत इसी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करता है और सबमें उसकी अभिव्यक्ति के कारण इन सबकी व्यवहार्यता को उपादेय मानता है। इन सबकी व्यवहार्यता को आधुनिकता भी स्वीकार करता है किन्तु इसके लिए उसके पास उपयोगितावाद से बेहतर कोई तर्क नहीं है। किन्तु जब मनुष्य आधुनिकता के प्रभाव में स्वयं अपने ही उत्पादों का उत्पाद बनता जा रहा है तब उपयोगितावाद समुदाचार के अतिरिक्त और कुछ रह नहीं जाता है। इस समुदाचार में लाठी अब बाजार के हाँथ में है और वह धीरे–धीरे पण्यता को सबसे बड़े मूल्य के रूप में प्रतिस्थापित करने में सफल होता जा रहा है। बाजार की यह सफलता इसके पहले कि कंज्यूमर के कंज्यूम हो जाने की कहानी लिखे मनुष्य के उस स्वरूप पर चिंतन आवश्यक हो गया है जिसमें उसे मात्र एक टेम्पोरल यूनिट के रूप में स्वीकार किया गया हो। अतएव आधुनिकता के साभ्यतिक अभियान के इस दौर में क्या यह आवश्यक नहीं हो गया है कि मनुष्य की पहचान वेदान्तिक धारा में उस मनुष्य के रूप में की जाये जिसकी अभिव्यक्ति 'श्वेतकेतु तत्त्वमसि' के रूप में होती है। जगत् का जो अनादि कारण है वह निःशेष नहीं है, अपितु वह अशेष है, वह विशिष्ट समय में भी है और वह अनन्त समय में भी है। वही मनुष्य का भी आदि कारण है अथवा यूँ कहें कि मनुष्य भी तत्त्वतः वही है। शरीरधारी के रूप में मनुष्य समय के किसी विछिन्न कालखंड की इकाई अवश्य है किन्तु आत्मतत्त्व के रूप में वह भी अशेष और अनन्त है। गीता में इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कृष्ण कहते हैं–

**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवार्जुन।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।**[18]

मनुष्य समाज एवं जगत् को समय के टेम्पोरल फ्रेमवर्क में देखने पर मनुष्य के सभी संबंध (मनुष्य का मनुष्य से, मनुष्य का समाज से या मनुष्य का प्रकृति से) देह आधारित ही हो सकते हैं; जो शरीर की समाप्ति के साथ क्षीण हो जाते हैं। इस मान्यता की जीवन–दृष्टि के रूप में स्वीकरण प्राचीन भारत में चार्वाक एवं यूनान में सोफिस्ट मत में होती है। इस दृष्टि से आधुनिकता को चार्वाक एवं सोफिस्ट मत का तकनिकी रूप से परिष्कृत संस्करण भी कहा जा सकता है। किन्तु विचारणीय यह है कि शरीर की

समाप्ति के साथ सभी संबंधों की समाप्ति को स्वीकार कर लेने पर जीवन में स्थायित्व और निरन्तरता की खोज का क्या तर्क हो सकता है? वह भी मात्र अपने शरीर यात्रा तक के लिए ही नहीं बल्कि जिसका विस्तार भावी पीढ़ियों तक भी हो। यह प्रश्न उत्तरजीविता के तात्त्विक और ऐतिहासिक अमरत्व की अभीप्सा को भी अपने में समेटे हुए है।

स्वाभाविक रूप से यहाँ स्थायित्व और निरन्तरता के लिए जो तर्क लिया जा सकता है उसका आधार अज्ञात के प्रति भय ही हो सकता है। इस अर्थ में अपनी शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य के कारण भविष्य की चिंता न करने वाला सबसे सफल प्राणी माना जा सकता है। ऐसा प्राणी सामान्यतया किसी का अनुगामी नहीं होना चाहेगा और न ही उसे सामाजिक जीवन में रूचि होगी। अपितु उसका जीवन तात्कालिकता के प्रभाव से ही गतिशील होगा। ऐसे में दया, करुणा, त्याग, प्रेम आदि मनुष्य के स्वाभाविक गुण नहीं होंगें। बल्कि, इन गुणों का एक ही तर्क होगा कि जब हम अकिंचनता की अवस्था में हों तब दुसरे भी हमारे साथ सद्व्यवहार करें और इस नाते हमें भी उनके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये। यह मूल्यों के प्रति मैकियावेलियन और हॉब्सियन दृष्टि है जो स्वभावतः मोहभंग और समय की टेम्पोरलिटी में मनुष्य को देखने से आधुनिकता का आगमिक गुण बन जाता है। अतः यदि किसी कारणवश समाज–रचना करनी भी पड़ी तो यह आकस्मिकता होगी न कि स्वाभाविकता।

वेदांत और प्रकारांतर रूप से गीता माया से आच्छादित भ्रम की अवस्था में हुए भान को मनुष्य और समय की टेम्पोरलिटी का संदर्भ देते हुए स्वीकार करता है। परन्तु इसके आगे इसका निराकरण वह मनुष्य एवं समय के अखंड अथवा ट्रांसेंडेंटल यूनिट के परिमाण में करता है। ऐसा करने से वेदांत समस्या के निवारण के लिए किसी समस्या को मात्र कुछ शरीरधारियों के बीच की समस्या ही नहीं मानता है बल्कि वह समस्या को प्रवृतियों अथवा चेतना के बीच का विषय बनाता है। यदि प्रवृत्ति या चेतना की निर्मलता को एक बार स्थापित कर लिया जाय तब विभिन्न शरीरधारियों के बीच भौतिक रूप से विभिन्न कालखण्डों में उस समस्या का उद्गम भी नहीं होगा। आधुनिकता का अभीष्ट इससे अलग नहीं है वह भी समस्याओं से आत्यन्तिक मुक्ति चाहता है किन्तु उसके द्वारा स्वीकार की गई परिकल्पना ही उसके लिए बाधक बनी हुई है। आश्चर्य है कि हीगल जैसे विचारक ने

जो स्वयं यूनिवर्सल रीजन को स्वीकार करता है वह अर्जुन एवं कृष्ण के संवाद में इम्बोॅडिड रीजन के प्रश्न और यूनिवर्सल रीजन के उत्तर के मर्म को नहीं समझ सका। हाल के वर्षों में रुत्खेर बर्गमान ने ऐसे गुणों से युक्त प्राणी के रूप में नियानडरथल की पहचान की है और होमो सेपियंस को इन गुणों से न पहचानने की अपील की है।[19] इस अवांतर साक्ष्य के उल्लेख का उद्देश्य यहाँ 'ह्युमन इवोल्यूशन' के सिद्धांत का अद्वैत मत के आधार पर समर्थन या विरोध करना नहीं है। बल्कि, यह दिखाना है कि आधुनिकता ने जिस प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद का सहारा लेकर मनुष्य की एक परिकल्पना गढ़ी है उनको प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद का सहारा लेकर भी खारिज किया जा सकता है; जैसा कि साक्ष्यों के माध्यम से बर्गमान ने करके दिखाया है।

द्रष्टव्य है कि विवेकवाद आधुनिकता की एक प्रमुख विशेषता है। वेदान्त भी मानवीय विवेक को प्रमुख स्थान देता है। यह ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से भी सिद्ध है जिसमें जिज्ञासा की वजह से ब्रह्म को जानने की बात आई है न कि ब्रह्म की वजह से जिज्ञासा को स्वीकार किया गया है। तथापि, आधुनिकता जिस विवेक की बात करता है और वेदांत जिस विवेक को प्रश्रय देता है उसमें आसमान–जमीन का अंतर है। इसका कारण है संबोध्य विवेकशीलता के संवाहक मनुष्य की अवधारणा में निहित अंतर। आधुनिकता की विवेकशीलता की आधारभूमि व्यक्तिवाद है और व्यक्तिवाद में यथार्थवादी दृष्टि को सबसे उपयुक्त विवेकशीलता का परिचायक माना गया है। समय को टेम्पोरल यूनिट मानकर जब हम उसमें मनुष्य की अवधारणा बनाते हैं और उसकी विवेकशीलता की बात करते हैं तब यह समाज एवं प्रकृति से कटे हुए व्यक्ति और उसकी तार्किकता की ही बात नहीं होती है बल्कि यह आत्म तत्त्व से कटे हुए व्यक्ति की भी बात होती है। ऐसा इसलिए कि आत्म तत्त्व समय के टेम्पोरल यूनिट से बंधा हुआ कोई तत्त्व नहीं है। आधुनिकता जिस मनुष्य की अवधारणा करता है उसके लिए वर्तमान और वर्तमान में अपनी हितों का संवर्द्धन विवेकशीलता के लक्ष्य होते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शक्ति जिन भौतिक संसाधनों का और भौतिक शक्ति का संचय आवश्यक है वही जीवन का यथार्थ है और वही जीवन का श्रेय और प्रेय भी है। यह सबका सबके विरुद्ध अनवरत संघर्ष की जीवन–दृष्टि है, जिसका समापन मृत्यु से ही संभव है, जहाँ पहुँचकर सभी

इच्छा और इच्छा–पूर्ति के लिए सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। इस तरह की विवेकशीलता में 'सेल्फ इज प्रायर टू सोसाइटी' और 'राईट इज प्रायर टू गुड' का विन्यास पाया जाता है। द्रष्टव्य है कि आगे चलकर पश्चिम में ही समुदायवादियों ने इन सबकी तीखी आलोचना भी की है।[20] व्यक्तिवाद एवं यथार्थवाद के गठजोड़ से विकसित होने वाली आधुनिक विवेकशीलता ने इस दुनिया को पॉवर मैक्सिमाईजेशन के लक्ष्य के साथ प्रिजनर्स डायलेमा में उलझा रखा है। इस प्रिजनर्स डायलेमा ने ही दुनिया में शस्त्र उद्योग को सबसे बड़ा उद्योग बना रखा है और सबको प्रकृति के दोहन के मुहीम में लगा रखा है। वेदांत की दृष्टि से आधुनिकता की यह विवेकशीलता इन्द्रिय संवेदी विवेकशीलता है। आधुनिकता भी अपनी विवेकशीलता को इन्द्रियसंवेदी मानता ही है।[21] वेदांत की दृष्टि से यह चेतना के अन्नमय एवं मनोमय स्तर की विवेकशीलता है। यह मनुष्य की वह विवेकशीलता है जो जैविक बंधनों से आच्छादित है और पशुता से मुक्त नहीं हुई है। आचार्य शंकर इस इन्द्रिय संवेदी विवेकशीलता को क्लेश का कारण मानते हैं। वे आत्मज्ञान को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। शंकर की दृष्टि में इन्द्रिय संवेदी विवेकशीलता मृतक देह में आसक्ति के समान है। इस मंतव्य को रेखांकित करने के लिए विवेक चूड़ामणि का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है।

**शावाकारं यावद् भजति मनुजस्तावदशुचिः**
**परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः।।**
**यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं।**
**तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि।।**
**स्वात्मन्यारोपिता शेषाभासवस्तुनिरासतः।**
**स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्व्यमक्रियम्।।**[22]

चेतना के इस स्तर की विवेकशीलता भौतिक सुखोपभोग एवं भौतिक संसाधनों के संचय से संतुष्ट होती है। वेदांत ने मनुष्य की व्यावहारिक सत्ता के स्तर पर इनको स्वीकार करते हुए मनुष्य की पारमार्थिक सत्ता के स्तर पर विवेकशीलता के एक उच्च स्तर को भी स्वीकार किया है। अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि मनुष्य की पारमार्थिक सत्ता को मनुष्य की व्यावहारिक सत्ता का नियामक बनाने का भी प्रयास किया है। चूँकि वेदांत मनुष्य को चेतना के दो आयामों (पराङ्मुखी और प्रत्यङ्मुखी) में देखता है, इस नाते वेदांत का मनुष्य न तो एक आयामी

मनुष्य है और न ही उसकी चेतना एक आयामी है। आधुनिकता के द्वारा प्रकृति एवं मनुष्य के बीच का संबंध उपभोक्ता एवं उपभोग्य का एक–आयामी संबंध है। यह संबंध मनुष्य की आर्थिक अवधारणा पर आधारित है। वेदांत प्रकृति और मनुष्य के बीच एक–आयामी संबंध की जगह बहुल संबंध को मान्यता प्रदान करता है। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर लिखते हैं कि, 'यदिं सकलं विश्व नानारूपं प्रतीतं ज्ञानात्। तत्सर्वं ब्रम्हैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम्।' इस मत की व्यावहारिक परिणति यह होती है कि जब हम माया के वशीभूत होकर अज्ञानतावश प्रकृति से संबंध बनाते हैं तब यह संबंध ऐन्द्रिक लिप्साओं की पूर्ति का संबंध होता है। किन्तु माया के निराकरण हो जाने पर जब हम प्रकृति से संबंध बनाते हैं तब यह संबंध पोषण एवं संरक्षण का संबंध होता है। वेदांत दर्शन में ऐन्द्रिक लिप्साओं की पूर्ति हेतु बनाये गए किसी भी संबंध को वरीयता नहीं दी गई है। अपितु ऐसे संबंध को त्याज्य बताया गया है, इसे आसुरी प्रवृत्ति कहा गया है और बंधनकारी बताया गया है।

सनातन परम्परा के ऋण की अवधारणा और पंच महायज्ञ के माध्यम से भी आधुनिकता की वेदान्तिक समालोचना के एक पक्ष को समझा जा सकता है। सनातन परम्परा में तीन ऋणों की परिकल्पना की गई है। देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। इन ऋणों से मुक्ति के लिए पंच महायज्ञ का विधान किया गया है। ऋणों से उऋण हुए बिना जीवन–मुक्ति संभव नहीं है। वस्तुतः वेदों और उपनिषदों में ऋण से मुक्ति का जो विधान है उसके पीछे एक निश्चित उद्देश्य है। वह उद्देश्य है, कर्तव्य पालन,सामाजिक एकजुटता, आत्मसंयम, सहचारिता और उत्तरदायित्व बोध की भावना को व्यक्ति में प्रतिष्ठित करना जिसे व्यक्ति पंच महायज्ञ का संपादन करते हुए पूरा करता है। यह एक ऐसा विधान है जिसमें व्यक्ति जितना ग्रहण करता है उतना वह अदा भी कर देता है। इस नाते अद्वैत वेदांत का सभ्यता दर्शन किसी ऐसी योजना को स्वीकार नहीं कर सकता है जिसमें सकल राष्ट्रीय आय के मुकाबले इतना कर्ज ले लिया जाय जिसे कई भावी पीढियाँ चुकाने हेतु विवश हों। ऋण और यज्ञ का समायोजन मनुष्य को निर्विषयी बनाने के लिए हैं। विषयासक्त मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता है, अपितु वह अपने स्वरुप का नाश कर लेता है। इस तथ्य को आचार्य शंकर ने विवेक चूड़ामणि में स्पष्ट रूप से समझाया है।

**विषयेष्वाविशच्चेतः संकल्पयति तद्‌गुणान्।**
**सम्यकसंकल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्तनम्।।**
**ततः स्वरुपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः।**
**पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते।।**
**संकल्पं वर्जयेत्स्मात्सर्वानर्थस्य कारणम्।**[23]

वेदांत जहाँ विषयासक्ति को मुक्ति के मार्ग में बाधक मानता है वहीं आधुनिकता अपने मुक्ति के दावे में विषयासक्ति को श्रेयस्कर और प्रेयस्कर दोनों मानता है। वेदांत मनुष्य और देवत्व के अंतर को पाट देना चाहता है और यह स्वरुपज्ञान जन्य आचरण से कैसे संभव है इसकी रुपरेखा भी बताता है; जिसमें यह स्वीकारोक्ति है कि षडविकारों से मुक्त मनुष्य ईश्वर ही है। किन्तु आधुनिकता मनुष्य और देवत्व के अंतर को बनाए ही नहीं रखना चाहती अपितु उसे बढाती भी है, और इस तरह से वेदांत की दृष्टि से आधुनिकता का इन्द्रियसंवेदनवादी दृष्टि मनुष्य को षडविकारों से जोड़े रखने का दर्शन है। वेदांत जिस विषयासक्ति से मुक्त जीवन की परिकल्पना करता है उसमें आधुनिकता सम्मत उपभोक्तावाद के लिए स्थान नहीं है, जबकि उपभोक्तावाद के बिना आधुनिक बाजार, बैंक, भौतिकता अपने को अक्षुण रख ही नहीं सकती है। आधुनिकता के लिए आज हर वस्तु, रिश्ता, संस्कार, संबंध, नैतिकता आदि का एक बाजार मूल्य है और इस बाजार में क्रेता–उपभोक्ता संप्रभु है। जबकि वेदांत यह प्रतिपादित करता है कि इस तरह के समस्त संबंध देहाधारित संबंध हैं और मनुष्य केवल देह ही नहीं है अपितु वह आत्म–तत्त्व भी है जिसका कोई बाजार मूल्य नहीं है।

उल्लेखनीय है कि दुनिया में हर कोने से आधुनिकता की पीड़ा के विरुद्ध घुटी–घुटी सी रुदन सुनी जा सकती है। इसके एक स्वरुप के विरुद्ध कार्ल मार्क्स ने लिखा अपितु वे स्वयं आधुनिकता के ही एक दुसरे प्रतिमान बनने से आगे नहीं जा सके। आधुनिकता और व्यक्तिवाद की मिली–जुली पीड़ा को मैक्फर्सन ने पजेसिव इंडिविजुअलिजम के रूप में व्यक्त किया। हर्बट मार्क्यूज इसे एक आयामी व्यक्ति की पीड़ा के रूप में देखते हैं। अस्तित्ववाद ने इस आधुनिकता में मनुष्य के परायेपन की पीड़ा और उसकी बेगानगी को देखा। पर्यावरणवाद का संम्पूर्ण मुहिम आधुनिकता पर सवाल खड़े करता है। किन्तु इस दिशा में गाँधी के हिंदस्वराज जैसा निर्णायक सुझाव और किसी जगह से आता हुआ दिखाई नहीं देता है। यह निर्णायक सुझाव इसलिए है कि बाकी अन्य सुझावों में आधुनिकता के जो

भौतिक लाभ हैं उनसे व्यामोह भी है और इसके दोषों से मुक्त होने की छटपटाहट भी है। गाँधी आधुनिकता के प्रलोभन में नहीं फसते हैं और वे इसके विकल्प के रूप में आत्मपूरित ग्रामीण स्वराज्य के विकल्प को अपनाने की बात करते हैं।[24] गाँधी स्वयं को अद्वैतवादी हिन्दू भी कहते थे[25], इस नाते आधुनिकता की गाँधी मीमांसा को आधुनिकता की वेदान्तिक समालोचना भी कहा जाना समीचीन होगा। साथ ही इसके लिए अतीत के कुछ सनातनी साक्ष्यों से गाँधी मत की तुलना भी यहाँ आवश्यक होगा। ऐसे प्रथम साक्ष्य के रूप में स्वयं आचार्य शंकर का उदाहरण लिया जा सकता है। आचार्य शंकर ने किसी उस भोगवादी जीवन का सहारा नहीं लिया था जो आधुनिक जीवन की विशेषता सी बन गयी है और न ही तब के प्रबल शहरी केन्द्रों पर मठों की स्थापना की थी। जिस तपश्चर्या का जीवन वे स्वयं जीते थे और जिसका उन्होंने उपदेश दिया वह प्रोटेस्टेंट मत (जिसे मैक्स बेबर ने आधुनिकता और पूँजीवाद के लिए सबसे मुफीद बताया) की तरह इस जीवन में भौतिक सफलता प्राप्ति के सन्देश नहीं हैं; बल्कि वे आत्म्मुक्ति के मार्ग हैं और ग्रामीण सभ्यता में शहरी सभ्यता के अपेक्षा अधिक व्यवहार्य हैं।

दूसरा उदाहरण हम कृष्ण के जीवन से ले सकते हैं। इस उदाहरण के दो पक्ष हैं। पहला स्वयं कृष्ण का जीवन जो कि एक ग्रामीण सभ्यता के नायक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इसी में यह भी शामिल है कि वे अंतिम शांति प्रस्ताव में पांडवों की ओर से पाँच गाँवों की माँग करते हैं, वहाँ भी वे किसी शहरी केंद्र की माँग नहीं कर रहे हैं। कृष्ण के गीता–उपदेश में भी इन्द्रियों को व्यसन से दूर रखने की जो योजना है वह आधुनिकता के विरुद्ध जाती है। इस दृष्टि से निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है।

**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।**[26]

प्रस्तुत श्लोक में जो कुल के स्त्रियों की दूषित हो जाने और वर्ण संकरत्व की बात आई है उसका वेदान्ती संदर्भ यह है कि इस शरीर रूपी कुल में इन्द्रियों को स्त्री संज्ञा से अभिहित किया गया है। इन्द्रियाँ विषयासक्त होकर प्रदूषित हो जाती हैं और इससे उनमें धर्मविमुखता उत्पन्न होती है; असली वर्ण संकरत्व यही है। किन्तु यह अर्थ तब प्रकट नहीं हुआ है जब यह अर्जुन के प्रश्न के रूप से सामने आया है। यह अर्थ तब प्रकट होता है जब इस और इस तरह के अन्यान्य प्रश्नों का उत्तर गीता में प्रकट होने लगता है। इस दृष्टि से यदि वेदांत के कलेवर में आधुनिकता की एक

आलोचना यह बनती है कि आधुनिकता इन्द्रियों की वर्ण संकरता को सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक मानती है, जबकि वेदांत इन्द्रियों की वर्ण संकरता को बंधन का कारण बताता है। वस्तुतः इन्द्रियों के विषय रूप में विकार युक्त जगत्, सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म तीनों ही हैं किन्तु इन्द्रियों में जब वर्ण संकरत्व दोष उत्पन्न हो जाती है तब विकार युक्त जगत् की आसक्ति से यह चेतना के उच्च स्तर के ज्ञान को ही असत्य, अप्रामाणिक और अव्यहार्य मानने लगती हैं। ऐसे में औपनिषद् जीवन–दर्शन 'तेनत्यक्तेन भुन्जिथा मागृद्धः कस्यस्विदधनम्' का आश्रय लेना दुरूह हो जाता है। अपितु इसके स्थान पर 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' साध्य बन जाता है और आज की आधुनिक सभ्यता चर्वाक के इस मूल मंत्र से कितना प्रेरित है, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि दुनिया के प्रायः हर राष्ट्रों ने भावी कई पीढ़ियों को खपा देने जितना ऋण ले रखा है।

गाँधी इस अंधी दौड़ से पूरी मानवजाति को बचाना चाहते थे। इसीलिए पहले तो वे इस अंधी दौड़ को जायज और प्रेरक बताने वाले विशेषज्ञों के ज्ञान और उनकी निष्ठा की ही समालोचना करते हैं।[27] यह एक तरह से गाँधी के द्वरा वेदांत के भ्रम–नैराश्य की पद्धति के प्रयोग द्वारा आधुनिकता के ज्ञान में निहित भ्रम को प्रदर्शित करना है। भ्रम–नैराश्य के पश्चात् गाँधी सही सभ्यता के मायने भी बताते हैं और सही सभ्यता को वे अपने आस–पास के संसाधनों पर निर्भर रहने, इन्द्रिय संयम का पालन करने, शरीर की आवश्यकताओं के लिए शरीर से श्रम करने और आत्मनिर्भर बनने में पाते हैं। जिस एक बात पर गाँधी सबसे अधिक बल देते हैं वह है सही सभ्यता के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के वेदान्त सम्मत चराचरसंवेदी आदर्श को जीवन में उतरना। एक वेदांती का जीवन जो आचार्य शंकर ने कल्पित किया है वह इससे कदापि भिन्न नहीं है। किन्तु आधुनिकता इनमें से एक के साथ भी अब तक अपने को योजित नहीं कर पायी है, अपितु इन मूल्यों से मनुष्य का विलगाव ही मानों उसकी अघोषित सार्वभौमिक कार्ययोजना है।

**दर्शन विभाग**
**डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र) 470003**
**राजनीति शास्त्र विभाग**
**आर्य महिला पी.जी. कॉलेज**
**चेतगंज, बाराणसी (उ.प्र.) 551002**

## संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *क्लाड लेवी स्ट्रास, (1963), स्ट्रक्चरल एन्थ्रोपोलॉजी, बेसिक बुक्स, न्यूयार्क, में विशेषकर तीसरे एवं अंतिम पाठ का मंतव्य उल्लेखनीय है।*
2. *इमैनुअल लेविनास, (1961), टोटालिटी एंड इनफिनिटी, मार्टिनस निजहोफ्फ, बोस्टन।*
3. *इमेनुअल लेविनास, (1972),ह्यूमनिज्म ऑफ द अदर, यूनिवर्सिटी ऑफ द इलियन प्रेस, शिकागो।*
4. *उदहारण के लिए एक सारवान लेखन देखें, सबारो लेंगा (1965), जापान्स मॉडर्नाइजेशन, कंटेम्परारी रिलिजन्स इन जापान, भाग–6, अंक–1*
5. *ऐसे ही एक लेख को उदाहरण के रूप में देखें, मकरंद परांजपे, (2017), वेदांत एंड मॉडर्न फिजिक्स : ह्वाई द मैरिज ऑफ स्पिरिचुअलिटी एंड साइंस इज डिफिकल्ट, स्वराज्य, मार्च–3, 2017, सितम्बर–03, 2023 को देखा गया।*
6. *इस तथ्य को ऐसे समझा जा सकता है कि महाभारत रूपी धर्मयुद्ध में शक्ति के स्थापित समीकरणों के साथ–साथ शक्ति के संभावित समीकरणों को भी भगवान् कृष्ण ने नष्ट कर दिया है और इसमें अपने यादव कुल को भी नहीं छोड़ा है।*
7. *कृष्ण कुमार (1988), द राइज ऑफ मॉडर्न सोसाइटी, आस्पेक्ट्स ऑफ द सोशल एंड पोलिटिकल डेवलपमेंट ऑफ द वेस्ट, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, बेसिल, पृष्ठ– 3.*
8. *माइक फीदरस्टोन (1992), कंज्यूमर कल्चर एंड पोस्ट मॉडर्निज्म, सेज पब्लिशर्स, लन्दन, पृष्ठ– 3.*
9. *जे.एच. हैलोवल (1950), मेन करेंट्स इन मॉडर्न पोलिटिकल थॉट, नार्थ करोलिना प्रेस, डरहम. पृष्ठ–38.*
10. *जोश कासानोवा (2009), द सेकुलर एंड सेकुलाराइजेशन, सोशल रिसर्च, भाग–76, अंक– 4, पृष्ठ–1049–1056.*
11. *व्योर्न वित्तोक (2000), मॉडर्निटीः वन, नन ऑर मेनी? यूरोपीयन ओरिजिंस एंड मॉडर्निटी ऐज : अ ग्लोबल कंडीशन, डेदुलस, भाग– 129, अंक–1, पृष्ठ–31– 48.*
12. *https://www.britannica.com/topic/modernization/Secularization- and rationalization, 01 मई 2024 को देखा गया।*
13. *पूर्वोक्त।*
14. *https://www.merriam-webster.com/dictionary/modern, 01 मई 2024 को देखा गया।*
15. *देखें, रोनाल्ड जे. सेरिग्ले (2011), अलबर्ट कामुस क्रिटिक ऑफ मॉडर्निटी,यूनिवर्सिटी ऑफ मिसिसौरी प्रेस,कोलंबिया।*

16. देखें, एकरिक हॉब्सबाम (1994), दी एज ऑफ एक्सट्रीम्स, विंटेज बुक्स (यू.एस.)।
17. *https://evolutionnews-org/2021/01/darwinism&as-the-root-problem-of-modernity/*, 01 मई 2024 को देखा गया।
18. श्रीमद्भगवद्गीता, 4/5
19. देखें, रुत्खेर बर्गमान (2023), ह्यूमनकाइंड : ए होपफुल हिस्ट्री,ब्लूमबेरी पब्लिशिंग, लन्दन, पृष्ठ–60–68.
20. देखें, माइकल सैंडल, चार्ल्स टेलर, माइकल वाल्जर एवं मैकिन्तायर की रचनाएँ।
21. देखें, हाब्स, लॉक एवं बेन्थम के विचार।
22. विवेकचूड़ामणि, 397–398.
23. विवेकचूडामणि, 397–398
24. एम. के. गाँधी (1976), कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, भाग–32, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फोर्मेशन एंड ब्राडकास्टिंग, नई दिल्ली,पृष्ठ, 296.
25. श्रीमन्ननारायण, सं, (1997), द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, भा–6, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृष्ठ,107.
26. श्रीमद्भगवद्गीता, 1/41.
27. हिन्दस्वराज में डाक्टरों एवं वकीलों की समालोचना को अनेक विद्वानों ने इसी दृष्टि से समझा है और स्वयं गाँधी का भी यही मंतव्य रहा है।

# गेटियर समस्या : स्वरूप, संरचना और सम्भावित प्रत्युत्तर

रवीन्द्र के. एस. चौधरी

## 1. समस्या का स्वरूप :

गेटियर समस्या समकालीन पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की एक ऐसी बहुचर्चित परंतु अब तक असाधित समस्या है जिसका मुख्य सरोकार ज्ञान के मानक विश्लेषण के आलोचनात्मक पक्ष से है। इसे एडमंड एल.गेटियर ने अपने एक ढाई पृष्ठ के प्रसिद्ध लेख में कतिपय प्रति–उदाहरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।[1] ज्ञान के मानक विश्लेषण के अनुसार ज्ञान को प्रामाणिक सत्य विश्वास (Justified True Belief) के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस परिभाषा के अंतर्गत ज्ञान के तीन आवश्यक लक्षण या शर्तें मानी गयी हैं–सत्यता, विश्वास एवं प्रामाणिकता। गेटियर ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ये शर्तें पृथक्–पृथक् भले ही अनिवार्य हो सकती हैं, परंतु ये तीनों संयुक्त रूप से पर्याप्त नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रामाणिक सत्य विश्वास के ऐसे उदाहरण संभव हैं जिन्हें ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

गेटियर ने ज्ञान के मानक विश्लेषण की जो पैनी आलोचना की है उससे समकालीन दर्शन में एक जटिल और लम्बा वाद–विवाद चल पड़ा है। अनेक दार्शनिकों ने अपने–अपने तरीके से उसका प्रत्युत्तर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परंतु अब तक समस्या को निर्णायक रूप से सुलझाया नहीं जा सका है। प्रस्तुत लेख में हमारा लक्ष्य ज्ञान के मानक विश्लेषण की पृष्ठभूमि में गेटियर समस्या को उसके प्रमुख प्रत्युत्तरों के साथ समालोचनात्मक रूप से विवेचित करना है।

## 2. ज्ञान का मानक विश्लेषण :

मानवीय ज्ञान के बहुविध रूप एवं प्रकार हैं, परंतु प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान को समस्त प्रकार के ज्ञान के लिए मूलभूत माना जाता है। किसी भी ज्ञानमूलक दावा (Knowledge claim) के मूल में कोई–न–कोई प्रतिज्ञप्ति


ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

निहित होती है। ज्ञानमूलक दावों की सामान्य संरचना यों होती हैं : 'स जानता है कि 'प'– जहाँ कि 'स' कोई ज्ञाता और 'प' एक प्रतिज्ञप्ति होता है। प्रतिज्ञप्ति से ही सूचनात्मक जानकारी का अंश व्यक्त होता है जिसे कि संबंधित ज्ञाता जानने का दावा करता है।

परंतु ऐसा संभव है कि कोई दावा महज खोखला दावा हो जो परखने पर वैध या सही नहीं ठहरे। प्रश्न उठता है कि कोई ज्ञानमूलक दावा किस आधार पर वैध या सही होता है? वे कौन सी शर्तें हैं जो ज्ञानमूलक दावे को वस्तुतः ज्ञान का दर्जा दिलाते हैं? इन्हीं शर्तों की विवेचना एवं स्पष्टीकरण को आजकल ज्ञान का मानक विश्लेषण (Standard Analysis of Knowledge) कहा जाता है।[2] ऐसे विश्लेषण के आधार पर हमें ज्ञान की यह प्रसिद्ध परिभाषा मिलती है कि 'ज्ञान प्रामाणिक सत्य विश्वास है' (Knowledge is Justified True Belief)।

गेटियर ने अपने लेख में ज्ञान के मानक विश्लेषण की चर्चा पूर्वपक्ष के रूप में की है। उक्त लेख में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि ज्ञान के मानक विश्लेषण की प्रारंभिक अवधारणा प्लेटो की कतिपय रचनाओं में मिलती है।[3] प्लेटो के अनुसार ज्ञान सत्य विश्वास है जो कि विवेक सम्मत होता है। प्लेटो की दृष्टि में ज्ञान मात्र अभिमत (opinion) या साधारण विश्वास से भिन्न है। मत सत्य या असत्य दोनों हो सकते हैं, जबकि ज्ञान सदैव असंदिग्ध रूप से सत्य होता है। ज्ञान की सत्यता सांयोगिक या भाग्य वश नहीं होती, अपितु वह तो विवेक सम्मत होता है और उसकी तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। इस तरह प्लेटो के मतानुसार ज्ञान निश्चित (certain), अखंडनीय (infallible) और बुद्धि (reason) से संगत होता है।

ज्ञान के मानक विश्लेषण में समकालीन दार्शनिकों ने प्लेटो के त्रिपक्षीय परंपरा को ही अपने–अपने ढंग से आगे बढ़ाया है। इस विश्लेषण के अनुसार ज्ञान की तीन शर्तें स्पष्ट होती हैं–सत्यता शर्त, विश्वास शर्त और प्रामाणिकता शर्त। गेटियर ने इन शर्तों की समीक्षा करने के क्रम में समकालीन पश्चिमी ज्ञानमीमांसा की एक विशेष प्रवृत्ति पर आलोचनात्मक दृष्टि केन्द्रित की है। उन्होंने रेखांकित किया है कि समकालीन दर्शन में किस तरह उक्त तीन शर्तों को किसी ज्ञानमूलक दावे की वैधता के निर्धारण के मामले में अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तों (necessary and sufficient

conditions) के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए हैं। उदाहरण के रूप में गेटियर ने चिशोल्म और एयर के मतों की स्पष्ट चर्चा की है।[4]

आर. एम. चिशोल्म के विश्लेषण के अनुसार ज्ञान की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तें हमें यों प्राप्त होती हैं[5] : स जानता है कि प, यदि और केवल यदि (S knows that P, Iff),

(i) स प को स्वीकार करता है (S accept P)

(ii) स के पास प के पक्ष में पर्याप्त साक्ष्य है, और (S has adequate evidence for P, and)

(iii) प सत्य है (P is true)।

ए.जे. एयर ने ज्ञान के अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तों को निम्नलिखित रीति से विश्लेषित किया हैं[6] : स जानता है कि प, यदि और केवल यदि (S knows that P, Iff)।

(i) प सत्य है (P is true)

(ii) स निःसंशय है कि प सत्य है, और (S is sure that P, and )

(iii) स को प की सत्यता के बारे में निःसंशय होने का अधिकार है (S has a right to be sure that P is true)।

स्पष्ट है कि अधिकतर दार्शनिकों ने सत्यता, विश्वास एवं प्रामाणिकता को ज्ञान के सामान्य लक्षणों के रूप में ही नहीं, अपितु पारिभाषिक विशेषताओं के रूप में चर्चा की है। उन्होंने इन तीनों को ज्ञान की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तों के रूप में ग्रहण किया है। उनकी यही स्थापना (JTB thesis) गेटियर की आलोचना का मुख्य विषय है।

### 3. गेटियर के दो प्रत्युदाहरण :

गेटियर ने दो प्रति–उदाहरणों (counter examples) के माध्यम से यह दर्शाने का प्रभावशाली प्रयास किया है कि प्रामाणिक सत्य विश्वास के रूप में ज्ञान का जो मानक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है उसमें सम्मिलित तीनों शर्तें – सत्यता शर्त, विश्वास शर्त और प्रामाणिकता शर्त – संयुक्त रूप से पर्याप्त नहीं हैं। अतः गेटियर के मतानुसार ज्ञान का मानक विश्लेषण उस हद तक गलत और अमान्य है जहाँ तक उसके आधारभूत शर्तें अपर्याप्त हैं। इसका मतलब है कि ऐसे मामले संभव हैं जहाँ कोई व्यक्ति स (S) किसी प्रतिज्ञप्ति प (P) में विश्वास करता है, कि प सत्य है और स का प की

सत्यता में विश्वास प्रमाण सम्मत भी है, तथापि ऐसा कहना सही नहीं है कि 'स जानता है कि प'।

यहाँ ध्यातव्य है कि गेटियर यह कतई नहीं कहते कि किसी विचाराधीन ज्ञानमूलक दावे में निहित प्रतिज्ञप्ति की सत्यता, उसमें विश्वास और उसकी प्रामाणिकता उसके वैध होने के लिए अनिवार्य नहीं है। उनका भी यह स्पष्ट मत है कि ये तीनों शर्तें किसी ज्ञान के लिए अलग–अलग अनिवार्य हो सकती हैं। परंतु इससे आगे बढ़कर उनका जोर तो इस बात पर है कि ये तीनों सम्मिलित रूप से पर्याप्त नहीं हैं। अर्थात् ये तीनों शर्तें किसी ज्ञानमूलक दावे को सुनिश्चित नहीं कर सकते; क्योंकि ये उसके निमित्त अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तों के समुच्चय की रचना नहीं करते।

आशय यह है कि प्रामाणिक सत्य विश्वास के कई ऐसे उदाहरण संभव हैं जिन्हें स्पष्टतया ज्ञान नहीं कहा जा सकता। गेटियर ने ऐसे दो प्रति–उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनकी पृथक्–पृथक् चर्चा यहाँ अपरिहार्य रूप से प्रासंगिक है।

**(क) प्रत्युदाहरण I**

गेटियर द्वारा प्रस्तुत प्रथम प्रत्युदाहरण (Case I) को निम्नलिखित रीति से विश्लेषित करके सुस्पष्ट किया जा सकता है : स्मिथ और जोन्स ने एक ही पद पर नौकरी पाने के लिए आवेदन किया है। स्मिथ के पास इस बात के लिए पर्याप्त साक्ष्य है कि (A) जोन्स को नौकरी मिलेगी।

इस तर्कवाक्य के पक्ष में स्मिथ के पास यह साक्ष्य हो सकता है कि कंपनी के प्रमुख ने स्मिथ को आश्वस्त किया हो कि अंततः जोन्स का ही चयन किया जाएगा। और, स्मिथ के पास इस बात के लिए भी जोरदार साक्ष्य है कि (B) जोन्स की जेब में दस सिक्के हैं।

इस तर्कवाक्य के पक्ष में स्मिथ के पास यह साक्ष्य हो सकता है कि दस मिनट पहले स्मिथ ने जोन्स के जेब के सिक्कों की गिनती की है। अब अनुमान के एक प्राथमिक नियम के अनुसार यदि दो तर्कवाक्य दिए हुए हों तो निष्कर्ष के रूप में उनका संयोजन करके एक यौगिक तर्क वाक्य को वैधतापूर्वक निगमित किया जा सकता है। (अर्थात् $A, B / \therefore A.B$)[7] अतएव् स्मिथ उपर्युक्त दोनों तर्कवाक्यों को संयुक्त करके एक संयोजनात्मक तर्कवाक्य पर पहुँचाता है–

जोन्स को नौकरी मिलेगी और जोन्स की जेब में दस सिक्के हैं।

आगे स्मिथ तर्कवाक्य (C) के आधार पर एक अधिक सामान्य तर्कवाक्य का अनुमान करता है– जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं।

प्राक्कल्पना के अनुसार स्मिथ का (D) में विश्वास प्रामाणिक है। स्मिथ को (D) से (C) का निगमन सुस्पष्ट है, और वह (D) को (C) के आधार पर स्वीकार करता है जिसके लिए उसके पास सशक्त साक्ष्य हैं। इस तरह स्मिथ का (D) में विश्वास की प्रामाणिकता स्पष्ट होती है।

परंतु समस्या तब पैदा होती है जब नौकरी वास्तव में जोन्स को नहीं मिलती। और, स्मिथ की गैर–जानकारी में खुद उसे ही नौकरी मिल जाती है। साथ ही स्मिथ की गैर–जानकारी में खुद उसकी जेब में दस सिक्के हैं। ऐसी स्थिति में भी तर्कवाक्य (D) सत्य है, हालाकि तर्कवाक्य (C) जिसके आधार पर स्मिथ ने (D) का अनुमान किया था, असत्य निकल आता है। इस प्रत्युदाहरण में, गेटियर के अनुसार, ज्ञान की तीनों परंपरागत शर्तें पूरी हो जाती हैं–

(i) तर्कवाक्य (D) सत्य है

(ii) स्मिथ का विश्वास है कि (D) सत्य है

(iii) स्मिथ का (D) में विश्वास प्रामाणिक है।

परंतु यह भी स्पष्ट है कि स्मिथ को वास्तव में (D) की सत्यता का ज्ञान नहीं है। (D) की सत्यता तो स्मिथ की जेब में मौजूद सिक्कों की संख्या के कारण है। परंतु खुद स्मिथ यह नहीं जानता है कि उसकी जेब में कितने सिक्के हैं। वह तो तर्कवाक्य (D) में अपने विश्वास को जोन्स की जेब में मौजूद सिक्कों की गिनती पर आधारित करता है और वह गलत ढंग से विश्वास कर लेता है कि जोन्स ही वह व्यक्ति है जिसे नौकरी मिलेगी।

उपर्युक्त प्रत्युदाहरण, गेटियर के अनुसार, यह दर्शाता है कि ज्ञान की तीनों परंपरागत शर्तें मिलकर भी किसी ज्ञान के संयोगवश सत्य होने की संभावना का परिहार नहीं कर सकतीं। यह तो मात्र संयोग ही है कि स्मिथ की जेब में दस सिक्के मौजूद हैं और जिसके विषय में वह खुद अनभिज्ञ है।

**(ख) प्रत्युदाहरण II**

गेटियर द्वारा प्रस्तुत द्वितीय प्रत्युदाहरण (Case II) की विवेचना भी यहाँ प्रासंगिक है। इसके अनुसार स्मिथ के पास निम्नलिखित तर्कवाक्य के लिए सशक्त साक्ष्य है : जोन्स के पास फोर्डकार है।

इसके पक्ष में स्मिथ के पास यह साक्ष्य हो सकता है कि जहाँ तक उसे याद है कि जोन्स के पास हमेशा एक फोर्डकार रहा है और जोन्स ने कई बार उसे अपनी कार में बैठने का प्रस्ताव भी दिया है।

आगे गेटियर के उदाहरण में यह माना गया है कि स्मिथ का ब्राउन नामक एक अन्य मित्र है और ब्राउन के पता–ठिकाने के बारे में वह पूरी तरह से अनभिज्ञ है। फिर भी स्मिथ यदृच्छ या तीन स्थानों के नाम का चयन करता है और निम्नलिखित तीन तर्कवाक्यों की रचना करता है :

या तो जोन्स के पास फोर्ड कार है, या ब्राउन बोस्टन में है;

या तो जोन्स के पास फोर्ड कार है, या ब्राउन ब्रेस्टलितोवस्क में है;

या तो जोन्स के पास फोर्ड कार है, या ब्राउन बार्सिलोना में है।

इनमें से हरेक तर्कवाक्य (A) से तर्कतः आपादित होता है; क्योंकि अनुमान के एक प्राथमिक नियम के अनुसार किसी दिए हुए तर्कवाक्य से किसी अन्य तर्कवाक्य का योग करते हुए एक वियोजनात्मक यौगिक तर्कवाक्य की रचना की जा सकती है। (अर्थात् $A / \therefore A \vee B)$[8] A अतः स्मिथ तर्क वाक्य (A) के बारे में उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर (B), (C) और (D) का क्रमशः अनुमान करता है। इनमें से हरेक पर उसका विश्वास, गेटियर के अनुसार, तर्कतः प्रामाणिक माना जायगा। भले ही उसे इस बात की कोई पुख्ता जानकारी नहीं है कि ब्राउन वर्तमान में कहाँ है।

आगे गेटियर के उदाहरण में यह माना गया है कि इस संदर्भ में दो और शर्तें लागू होती है : जोन्स के पास फोर्ड कार नहीं है, लेकिन वह वर्तमान में, एक भाड़े की फोर्ड कार चलाता है।

महज संयोगवश, और स्मिथ की गैर–जानकारी में, ब्राउन बार्सिलोना में हैं। इन दोनों शर्तों के लागू होने के बावजूद तर्कवाक्य (D) सत्य है। कारण यह कि यदि किसी वियोजानात्मक तर्कवाक्य का एक भी विकल्प सत्य हो तो समूचा वियोजनात्मक यौगिकवाक्य सत्य सिद्ध होता है। ब्राउन का स्मिथ की गैर जानकारी में सांयोगिक रूप से बार्सिलोना में होना तर्कवाक्य (D) को सत्य बनाता है। भले ही उसका दूसरा विकल्प, अर्थात् तर्कवाक्य (A), असत्य हो। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि स्मिथ को वास्तव में तर्कवाक्य (D) का ज्ञान है। भले ही यहाँ भी ज्ञान की तीनों परंपरागत शर्तें पूरी होती हैं–

तर्कवाक्य (D) सत्य है ;

स्मिथ को (D) की सत्यता में विश्वास है ;

स्मिथ का (D) में विश्वास प्रमाण सम्मत है।

इस तरह गेटियर दो प्रति उदाहरणों के द्वारा यह दर्शाने का प्रयास करता है कि ज्ञान के मानक विश्लेषण में सम्मिलित तीनों शर्तें किसी ज्ञानमूलक दावे की वैधता के निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

**4. गेटियर की पूर्वमान्यताएँ :**

गेटियर के प्रति उदाहरणों की पृष्ठभूमि में कुछ मान्यताएँ हैं जिन्हें नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। खुद गेटियर ने अपने प्रति– उदाहरणों पर चर्चा करने से पूर्व इन पूर्व मान्यताओं का उल्लेख किया है।[9] ऐसी दो पूर्वमान्यताएँ हैं :

(क) किसी व्यक्ति के लिए एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करना प्रामाणिक हो सकता है जो कि वास्तव में असत्य है (It is possible for a person to be justified in believing a proposition that is in fact false.) और, उसका यह विश्वास उसी अर्थ में प्रामाणिक हो सकता है जिस अर्थ में संबंधित प्रतिज्ञप्ति में विश्वास होना पारंपरिक मानक विश्लेषण के अंर्तगत ज्ञान को अनिवार्य समझा जाता है।

(ख) किसी प्रतिज्ञप्ति P के मामले में, यदि S का P में विश्वास प्रामाणिक है, और P से Q आपादित होता है, तथा S आगे Q को P से निगमित करता है, तो S का Q में विश्वास प्रामाणिक है। इसे प्रतीकात्मक तर्क शास्त्र की भाषा में यों व्यक्त किया जा सकता है :

1. $P.(P \supset Q)$
2. $P \supset Q / \therefore Q$
3. P 1, Simplification
4. Q 2, 3, Modns Ponens.

गेटियर की इन पूर्व मान्यताओं से कतिपय विचारणीय बिन्दुओं का भी पता चलता है जिनकी विवेचना यहाँ अत्यंत प्रासंगिक है :

(i) गेटियर के प्रति–उदाहरणों का संदर्भ ज्ञान का मानक विश्लेषण है जो कि प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान या 'जानना कि प' (knowing that P) की अवधारणा पर अधारित है। मानक विश्लेषण का सरोकार वैसे ज्ञान तक सीमित है जो प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त होती हैं या हो सकती हैं। परंतु ध्यातव्य है कि गेटियर मानक विश्लेषण को इससे भी सीमित अर्थ में ग्रहण करते हैं।

गेटियर मानक विश्लेषण को ज्ञान की ऐसी परिभाषा के रूप में लेते हैं जिसका अभिप्रेत विषय प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान का एक विशेष प्रकार है जिसे गैर–आधारभूत या अनुमानित ज्ञान (non-basic or inferential) कहा जाता है।[10]

(ii) गेटियर के प्रति–उदाहरण वास्तव में वैचारिक प्रयोग (thought experiments) या अर्थ–प्रायोगिक कार्यवाहियाँ (quasi-experimental procedures) हैं। इनमें ऐसी परिस्थितियों की काल्पनिक रचना की गयी है जिनके अंतर्गत किसी ज्ञानमूलक दावे की स्वीकार्यता को परखने के निमित्त अंतदृष्टि या दृष्टिकोण विकसित की जा सके। ऐसा काल्पनिक विश्लेषण किस सीमा तक वास्तविकता की धरातल पर उपादेय या मान्य हो सकता है? यह एक खुला प्रश्न है तथापि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे वैचारिक प्रयोग ज्ञान–विज्ञान के इतिहास में कोई नयी बात नहीं है। गेटियर समस्या के समाधान प्रस्तुत करने के प्रयास में जिस विपुल साहित्य की रचना हुई है उसमें भी अनेक रोचक प्रति–उदाहरणों की भरमार है जिन्हें गेटियर मामले (Gettier Cases) कहते हैं।[11]

**5. गेटियर समस्या के कुछ प्रमुख प्रत्युत्तर :**

चूँकि गेटियर ने ज्ञान के मानक विश्लेषण पर ही गंभीर प्रश्न खड़ा कर दिया है; इसलिए गेटियर समस्या समकालीन पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की सबसे विवादित और चर्चित विषयों में से रहा है। अनेक दार्शनिकों द्वारा इसके प्रत्युत्तर प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसे कुछ प्रमुख प्रत्युत्तर यहाँ हमारे लिए विचारणीय हैं :

(क) कई दार्शनिकों के मतानुसार गेटियर ने वास्तव में एक भ्रामक समस्या प्रस्तुत की है। ऐसे दार्शनिकों में इरविंग थालबर्ग[12] और चार्ल्स पेलथार्प[13] उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार गेटियर के प्रत्युदाहरणों में असत्य तर्कवाक्य से निगमित विश्वास के प्रामाणिक होने की बात की गयी है जो कि वास्तव में अचिन्य है। एक असत्य तर्कवाक्य से निगमित विश्वास को भला कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? दरअसल यहाँ तो प्रामाणिकता की शर्त ही पूरी नहीं होती क्योंकि पहले तो सत्यता शर्त का पूरा होना अनिवार्य है।

गेटियर के प्रथम प्रत्युदाहरण में स्मिथ एक असत्य तर्कवाक्य – ''जोन्स को नौकरी मिलेगी और उसकी जेब में दस सिक्के हैं'' के आधार पर यह निष्कर्ष निकालता है कि ''जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं''। अपने आधार वाक्य के पक्ष में स्मिथ के पास एक से

बढ़कर एक साक्ष्य हो सकते हैं परंतु वास्तव में वे मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही रोचक हो सकते हैं। तार्किक महत्त्व की बात तो यह है कि स्मिथ को सही मायनों में यदि उक्त मामले में ज्ञान होता तो वह एक असत्य तर्कवाक्य को प्रामाणिक नहीं मानता।

(ख) आर.एस.चिशोल्म ने ज्ञान की चौथी शर्त के रूप में अखण्डनीयता (indefeasibility) को जोड़ने और पारिभाषित करने का प्रयास किया है। गेटियर समस्या से यह बात निकलकर सामने आती है कि कतिपय विश्वास हमारे लिए सुस्पष्ट हो सकते हैं परंतु साथ ही वे असत्य भी हो सकते हैं (a belief may be both evident and false)। ऐसे तथा कथित सुस्पष्ट परंतु असत्य विश्वास के संभव होने के चलते ज्ञान की पारंपरिक परिभाषा में एक उपयुक्त चौथी शर्त जोड़कर उसे परिवर्द्धित करना अपरिहार्य हो जाता है। इस दृष्टि से गेटियर समस्या को 'चौथी शर्त की समस्या' भी कहा जाता है।[14]

चिशोल्म के अनुसार गेटियर समस्या जैसे मामलों में दरअसल होता यह है कि कुछ खास तर्कवाक्यों को कतिपय अन्य तर्कवाक्यों के आधार पर सुस्पष्ट करने की कोशिशें की जाती हैं। उन तर्कवाक्यों को सुस्पष्ट करने की यह प्रक्रिया आगमनात्मक या निदर्शनात्मक (non-demonstrative) होती है। चूँकि यह प्रक्रिया निगमनात्मक नहीं होती है इसलिए एक सत्य तर्कवाक्य के लिए किसी असत्य तर्कवाक्य को सुस्पष्ट करने का जरिया बन जाना मुमकिन है।[15]

इसलिए गेटियर समस्या जैसे प्रति–उदाहरणों को चिशोल्म ने ''त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट'' (defectively evient) होने के मामले घोषित किया है। ''त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट'' होने को उन्होंने परिभाषित किया है :

''h त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट है S के लिए = परिभाषा (Df)

(1) एक ऐसा e है जो hको S के लिए सुस्पष्ट बनाता है; और

(2) ऐसी हर चीज जो h को S के लिए सुस्पष्ट बनाता है वह कुछ ऐसा बनाता है जो कि S के लिए असत्य साक्ष्य है।''[16]

उदाहरणार्थ, ''जोन्स के पास फोर्ड कार है, या ब्राउन बार्सिलोना में है'' यह तर्कवाक्य स्मिथ के लिए तर्कवाक्य e (यथा, जोन्स हर समय अपने गैराज में फोर्ड रखता है, इत्यादि) के आधार पर सुस्पष्ट होता है और, वह सब कुछ जो e स्मिथ के लिए सुस्पष्ट बनाता है वह इस तर्कवाक्य को भी

असत्य बनाता है कि ''जोन्स के पास एक फोर्ड कार है।'' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोई भी तर्कवाक्य स्वयं को सुस्पष्ट नहीं करता।

इस आधार पर क्या ''h त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट नहीं है'' को हम चौथी शर्त के रूप में ज्ञान की मानक परिभाषा में जोड़ सकते हैं? ऐसा करना, चिशोल्म के अनुसार, अपर्याप्त होगा। यदि हम ऐसा करते हैं तो हमें गलत तरीके से कहना पड़ेगा कि गेटियर का स्मिथ यह नहीं जानता है कि e सत्य है। कारण कि h की तरह e भी परिभाषतया त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट है। इसलिए चिशोल्म की दृष्टि में उपर्युक्त परिभाषा को थोड़ा और जटिल बनाना आवश्यक है।

ध्यातव्य है कि e के विपरीत, उसके संयुक्त (यथा, जोन्स गैराज फोर्ड में रखता है) त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट नहीं है। कोई भी संयुक्त (conjunct) अपने–आपमें अकेले किसी असत्य प्रतिज्ञप्ति को सुस्पष्ट नहीं बनाता, परंतु ऐसे संयुक्त आपस में मिलकर ही किसी असत्य प्रतिज्ञप्ति को सुस्पष्ट बनाते हैं। इस आधार पर हमें ज्ञान की यह परिभाषा मिलती है : ''h को S द्वारा जाना जाता है = परिभाषा (Df)

(1) h सत्य है; (2) h को S स्वीकार करता है (3) S के लिए h सुस्पष्ट है; तथा (4) यदि S के लिए h त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट है तो h प्रतिज्ञप्तियों के ऐसे संयुक्तीकरण से आपादित होता है जिसमें से हरेक S के लिए सुस्पष्ट है परंतु उसके लिए त्रुटिपूर्ण रूप से सुस्पष्ट नहीं है।''[17]

उपर्युक्त विश्लेषणों से स्पष्ट है कि ज्ञानमूलक दावों में कई बार संबंधित तर्कवाक्य को स्पष्ट करने के क्रम में कई अहम साक्ष्य जाने–अनजाने उपेक्षित हो जाते हैं। अर्थात् जो भी साक्ष्य प्रस्तुत किए जाते हैं वे अखण्डनीयता की कसौटी पर अपूर्ण ठहरते हैं जिसके चलते गेटियर समस्या जैसी कठिनाईयाँ पैदा होती है। परंतु प्रश्न उठता है कि क्या कोई भी ऐसा ज्ञान संभव नहीं है जो पूर्णतया साक्ष्य –समर्थित हो और निरपेक्षतया अखण्डनीय हो?

(ग) लेहरर और पैक्सन का मत है कि कोई भी ज्ञानमूलक दावा निरपेक्षतया अखण्डनीय नहीं हो सकता। कारण कि किसी भी मामले में प्रासंगिक साक्ष्यों की श्रृंखला सिद्धांततः अंतहीन होती है। इसलिए प्रमाणीकरण की प्रक्रिया को निःशेष रूप से पूरी नहीं की जा सकती।

लेहरर और पैक्सन ने इस संबंध में एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।[18] मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति कुछ साक्ष्यों के आधार

पर इस विश्वास पर पहुँचता है : (p) टॉमग्रैबिट ने पुस्तकालय से किताब चुरायी थी।

परंतु आगे ऐसा होता है कि उपर्युक्त विश्वास खण्डित हो जाता है क्योंकि निम्नलिखित सत्य तर्कवाक्य प्रकाश में आता है :

(q) मिसेज ग्रैबिट, जो कि टॉम की माँ हैं, निश्चयपूर्वक बतलाती है कि टॉम उस दिन तो पुस्तकालय में उपस्थित नहीं था।

जाहिर है कि (q) की जानकारी हो जाने के बाद (p) में हमारे विश्वास करने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। परंतु रोचक है कि मामला यहीं खत्म नहीं हो जाता। आगे और भी अहम साक्ष्य सामने आता है। यह पता चलता है कि–

(r) मिसेज ग्रैबिट व्याधिग्रस्त रूप से असत्यवादी तथा आदतन झूठ बोलने वाली महिला हैं और टॉमग्रैबिट उस दिन पुस्तकालय में उपस्थित था।

अब (r) के संज्ञान में आने के बाद हमारे लिए उस मूलस्थिति पर लौटना आवश्यक हो जाता है जहाँ कि (p) के ज्ञान को वास्तविक उदाहरण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टांत से और भी कई उल्लेखनीय बिन्दु उजागर होते हैं :

- प्रासंगिक साक्ष्य प्रामाणीकरण के मूलाधार हैं। अतः साक्ष्य की अवधारणा अपने–आपमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।
- साक्ष्य बहुधा भ्रामक या नकली हो सकते हैं। अतः वास्तविक एवं भ्रामक, असली और नकली साक्ष्यों के मध्य विभेद करना अत्यंत आवश्यक है।
- किसी भी विचाराधीन मामले में साक्ष्यों की संख्या और सीमा सुनिर्धारित नहीं की जा सकती। अतः ज्ञान के प्रमाणीकरण का कोई भी प्रयास हर दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकता।

अतएव लेहरर और पैक्सन का मत है कि ज्ञान के किसी विशेष उदाहरण में हमारे विश्वास करने के कुछ आधार होते हैं परंतु उनमें से कोई भी आधार वाक्य असत्य नहीं होना चाहिए। इसलिए लेहरर ने अखंडनीयता को यों परिभाषित किया है :

यदि p पूरी तरह से S के h में विश्वास का औचित्य सिद्ध करता है तो q केवल और केवल तभी उस औचित्य–सिद्धि को खंडित करता है यदि–

(i) q सत्य है ;

(ii) p और q का संयोजन S का h में विश्वास के औचित्य को पूरी तरह सिद्ध नहीं करता है ;

(iii) S का यह विश्वास पूर्णतया औचित्यपूर्ण है कि q असत्य है ;

(iv) यदि c का तार्किक परिणाम q है तथा c और p का संयोजन S का h में विश्वास के औचित्य को पूरी तरह सिद्ध नहीं करता तो S का c की असत्यता में विश्वास पूर्णतया औचित्यपूर्ण है।[19]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ज्ञानमूलक दावों के मामले में खण्डनकारी विपरीत उदाहरणों पर विचार की समीचीन सीमा का निर्धारण आवश्यक है। केवल वे ही साक्ष्य हमारे लिए विचारणीय हैं जो कि सशक्त रूप से निषेधकारी हैं। अतः अखंडणीयता की कसौटी निरपेक्षतया नहीं अपितु मर्यादित रूप में ही वरेण्य है।

(घ) रॉबर्ट नॉजिक का मत है कि ज्ञान सत्यता का अनुगामी होता है। किसी भी विश्वास के प्रामाणिक होने के लिए उसका उन तथ्यों का अनुगामी होना आवश्यक है जो कि उसे सत्य बनाता है। अपने इसी सत्यता के अनुगमन सिद्धांत (truth-tracking theory of knowledge) के आधार पर नॉजिक ने गेटियर समस्या का समाधान सुझाने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार यदि किसी ज्ञाता S के द्वारा p को जानने का दावा किया जाता है तो उसका निहितार्थ है–

(i) p सत्य है ;

(ii) S का विश्वास है कि p;

(iii) यदि p सत्य नहीं होता, तो S विश्वास नहीं करता कि p;

(iv) यदि p सत्य होगा, तो S विश्वास करेगा कि p

इस तरह कोई व्यक्ति सत्यता को तभी जान पाता है जब वह सही मायने में विश्वास करता है और वह तभी विश्वास करता है जब वह सत्यता को जानता है। नॉजिक के अनुसार, जानने का मतलब एक ऐसे विश्वास का होना है जो कि सत्यता का अनुगमन करता है (To know is to have a belief that tracks the truth)।[20]

नॉजिक के मत में कोई विश्वास इसलिए सत्यता का अनुगमन करता है क्योंकि विचाराधीन विश्वास और प्रासंगिक तथ्यों के बीच सीधा और स्वाभाविक संबंध होता है। विश्वास की निर्माणकारी प्रक्रिया वास्तव में

वस्तुस्थिति के मेल में ही संपन्न होती है। सत्यता के आधार पर विश्वास का निर्माण होता है और विश्वास के आधार पर सत्यता ज्ञात होती है।

हमारे विश्वास वस्तुस्थिति से संभावनार्थक या हेतु हेतु मद्‌भाव से (subjunctively) धनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। विश्वास की सत्यता न केवल तथ्यों से सीधे संबंधित होती है बल्कि वह विश्वसनीयता (reliability) की कसौटी पर भी खरी उतरती है। किसी ज्ञान के विश्वसनीय होने का अर्थ है कि यदि कभी परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाएँ तो वह उस संभाव्य जगत् (possible world) की वस्तुस्थिति के अनुरूप परिवर्तनशील हो सकता है। जो तर्कवाक्य एक विशेष स्थिति में सत्य है वह वस्तुस्थिति में संभाव्य बदलाव के साथ असत्य भी हो सकता है। इसलिए ज्ञान ऐसा सत्य विश्वास है जो मात्र संयोगवश या आकस्मिक रूप से सत्य नहीं होता, बल्कि वह तो अविच्छिन्न रूप से सत्यता का अनुमान करता है।[21]

स्पष्ट है कि नॉजिक के मत में किसी ज्ञान की विश्वसनीयता न केवल वास्तविक तथ्यों से बल्कि संभावित परिस्थितियों से भी निर्धारित होती है। इसका मतलब है कि किसी ज्ञानमूलक दावे के मामले में संबंधित ज्ञाता को उन समस्त संभावित प्रतिकूल परिस्थितियों की अवगति होनी चाहिए जिसके तहत संबंधित तर्कवाक्य असत्य सिद्ध हो सकता है। परंतु समस्या यह है कि व्यवहार में इस शर्त की पूर्ति संभव है।

(ड.) ए. आई. गोल्डमैन ने ज्ञान के कारण मूलक सिद्धांत (Causal Theory of Knowing) का प्रतिपादन किया है और इसके आधार पर उन्होंने गेटियर समस्या जैसी प्रमाणीकरण संबंधी चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ज्ञान के लिए विश्वास का होना अनिवार्य है, परंतु इस संदर्भ में मूलभूत प्रश्न यह है कि किसी तर्कवाक्य पर आखिर क्यों विश्वास किया जाता है? गोल्डमैन ने इसकी कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।

गोल्डमैन के मत में जो तथ्य संबंधित तर्कवाक्य को सत्य बनाता है वही तत्संबंधी विश्वास का भी कारण होता है। उनके अनुसार ''किसी व्यक्ति S को h का ज्ञान है केवल यदि तथ्य h समुचित कारणात्मक रूप से S के h में विश्वास से संबंधित है।''[22] अतः जब कोई व्यक्ति (S) किसी तथ्य (h) को जानने का दावा करता है तो उस प्रक्रिया के दो उल्लेखनीय पक्ष होते हैं–

(क) तथ्य h, और (ख) S का h में विश्वास। किसी भी वैध ज्ञानमूलक दावे में दोनों पक्षों के बीच समुचित कारणात्मक संबंध का होना अत्यावश्यक है।

इससे प्रमाणीकरण संबंधी परंपरागत सिद्धांतों की एक बड़ी कमजोरी भी उजागर होती है। ये सिद्धांत, गोल्डमैन के अनुसार, इस बात की व्याख्या करने में विफल हैं कि आखिर क्यों कोई खास विश्वास किया जाता है? ऐसा क्या है जो उस विश्वास को पैदा करता है और उसे कायम रखता है?[23] गोल्डमैन के मत में इस 'आखिर क्यों' (reason why) की कारणात्मक व्याख्या ही अंततोगत्वा समीचीन एवं संतोषजनक ठहरती है। इस तरह यदि कोई व्यक्ति दावा करता है कि 'मैं जानता हूँ कि p' तो उसका ऐसा विश्वास उस तथ्य से उत्पन्न एवं उस पर आधारित है जो कि च को सत्य बनाता है।

परंतु गेटियर समस्या जैसे मामलों में संबंधित तर्कवाक्य और प्रासंगिक तथ्य के बीच समुचित कारणात्मक संबंध का सर्वथा अभाव होता है; तथापि इसकी अनदेखी कर दी जाती है। उदाहरणार्थ, गेटियर के दूसरे प्रत्युदाहरण में स्मिथ के विश्वास को यह तथ्य सत्य बनाता है कि ब्राउन बार्सिलोना में है। परंतु यहाँ स्मिथ के विश्वास और उक्त तथ्य के बीच समुचित कारणात्मक संबंध की स्पष्ट कमी है। दोनों के मध्य ज्ञानमीमांसीय महत्त्व का कोई स्वाभाविक संबंध नजर नहीं आता। जैसे मान लिया जाए कि स्मिथ को ब्राउन की एक ऐसी चिट्ठी मिली होती जिस पर बार्सिलोना के किसी डाकघर की मुहर लगी होती तो स्मिथ के संबंधित विश्वास को एक पुख्ता आधार मिल गया होता। परंतु गेटियर मामले में ऐसा कोई समीचीन संबंध नहीं मिलता है।

(च) मार्शल स्वेन ने प्रामाणिकता संबंधी कारणमूलक मत को आगे विकसित करने का प्रयास किया है। उन्होंने इस पर जोर दिया है कि अखण्डनीयता शर्त के अंर्तगत विश्वास और वस्तुस्थिति के मध्य कारणात्मक शृंखला (causal chain) का होना एक ऐसा तथ्य है जिसका कि ज्ञान के मानक विश्लेषण में सारभूत महत्त्व है। उनके अनुसार ज्ञानमीमांसीय प्रामाणिकता के लिए इस कारणात्मक शृंखला का अविच्छिन एवं त्रुटि रहित होना अपरिहार्य है।

स्वेन के मतानुसार, किसी ज्ञानमूलक दावे की प्रामाणिकता वास्तव में खण्डनीय है या अखण्डनीय, यह सामान्यतया प्रासंगिक कारणात्मक

श्रृंखला का प्रतिफलन होती है। जैसे कि कोई ज्ञाता (S) किन्हीं साक्ष्य (e) के आधार पर एक विशेष तर्कवाक्य (p) को जानने का दावा करता है; अब स्वेन के अनुसार यहाँ एक उपयुक्त कारणात्मक श्रृंखला S को e में विश्वास कायम करने की ओर ले जा सकती है। उस कारणात्मक श्रृंखला में–

e के अंतर्गत या तो ऐसी घटना या वस्तुस्थिति सम्मिलित होती हैं जिनका कि p निर्देश करता है, अथवा

e में कुछ अन्य घटना या वस्तुस्थिति शामिल होती हैं जो ऐसी घटना के घटित होने के लिए तर्कतः पर्याप्त होते हैं जिनका कि p निर्देश करता है।[24]

इस तरह किसी ज्ञानमूलक दावे के संदर्भ में यदि कोई खण्डनकारी प्रतिकूल साक्ष्य उभरकर सामने आता है तो उसका निहितार्थ है कि संबंधित ज्ञाता को विश्वास और वस्तुस्थिति के मध्य समुचित कारणात्मक श्रृंखला का अभाव है। स्वेन की कोशिश यह रही है कि ज्ञान के मानक विश्लेषण में चौथी शर्त के रूप में अखंडनीयता को एक अकाट्य कारणात्मक संबंध से प्रतिस्थापित कर दिया जाय जो कि विश्वास एवं वस्तुस्थिति के मध्य स्वाभाविक रूप से उपलब्ध होता है।

**समालोचनात्मक निष्कर्ष** :

गेटियर समस्या समकालीन पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में जितनी चर्चित रही है उसका निर्णायक समाधान प्रस्तुत करना उतना ही दुष्कर सिद्ध हुआ है। विभिन्न दार्शनिकों द्वारा इसका अपने–अपने ढंग से प्रत्युत्तर प्रस्तुत करके विशिष्ट समाधान सुझाये गए हैं। ऐसे कुछ प्रमुख प्रत्युत्तरों पर ऊपर हमने जो विचार किया है। उसके आधार पर इस समस्या के प्रति कतिपय सामान्य उपागम लक्षित किए जा सकते हैं। ऐसे दो उपागम यहाँ उल्लेखनीय हैं– (क) खंडनीयता उपागम, और (ख) कारणता उपागम।

(क) खण्डनीयता उपागम (Defeasibility Approach) के अनुसार जिन प्रमाणों या साक्ष्यों के आधार पर किसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास किया जाता है; वे खंडनीय हो सकती हैं। विश्वास–निर्माणकारी अनुकूल साक्ष्यों के आलावा कुछ ऐसे विपरीत साक्ष्य भी हो सकते हैं जो विचाराधीन विश्वास के लिए निर्णायक रूप से खण्डनकारी हों। वैसी स्थिति में उस विश्वास को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता और ज्ञानमूलक दावा भी वैध नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान को यों परिभाषित किया जाना आवश्यक है–ज्ञान

अखंडनीय प्रामाणिक विश्वास है (Knowledge is Indefeasible Justified True Belief); इस दृष्टि से किसी ज्ञानमूलक दावे के वैध होने के लिए सत्य, विश्वास और प्रमाण होना ही पर्याप्त नहीं है; इस मामले में प्रासंगिक प्रमाणों का अकाट्य होना भी अनिवार्य है।

(ख) कारणता उपागम (Causality Approach) के अनुसार मानवीय ज्ञान की सत्यता और उसमें संबंधित ज्ञाता के विश्वास के बीच स्वाभाविक कारणात्मक संबंध का होना अपरिहार्य है। जब ऐसा समुचित कारणात्मक संबंध विद्यमान होता है तभी किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने का हमारा दावा मात्र संयोग या भाग्यवश नहीं अपितु अकाट्य रूप से सत्य होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जो तथ्य या वस्तुस्थिति किसी तर्कवाक्य को सत्य बनाती है वही हमारे भीतर तद्नुरूप विश्वास भी पैदा करती है और उसी के फलस्वरूप हमारा विश्वास कायम रहता है। अतः किसी साक्ष्य की अखंडनीयता का निर्धारण संबंधित विश्वास एवं प्रासंगिक वस्तुस्थिति के मध्य समुचित कारणात्मक संबंध के आधार पर ही हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के समाधानों में एक बात सामान्य है। ये दोनों ज्ञान के मानक विश्लेषण में एक चौथी शर्त (Fourth Condition) जोड़ने के पक्षधर हैं। परंतु वह चौथा शर्त क्या हो इसे लेकर दोनों उपागमों में गहरी मत विभिन्नता है। पहले उपागम के समर्थक अखंडनीयता (Indefeasibility) को और दूसरे उपागम के समर्थक कारणता (Causality) को चौथी शर्त के रूप में जोड़ने का प्रयास करते हैं। अतः हमारे लिए इन कोशिशों की जाँच–परख आवश्यक है।

आलोचनात्मक दृष्टि से ज्ञान के मानक विश्लेषण में अखंडनीयता को चौथी शर्त के रूप में जोड़ना अनावश्यक ही नहीं अपितु समस्याजन क भी है। प्रामाणिकता स्वरूपतः अखंडनीय होती है। जो कुछ प्रामाणिक है वह स्वभाविक रूप से अखंडनीय होता है–वह किसी असत्य तर्क वाक्य पर आधारित नहीं हो सकता। यदि कोई बात किसी तरह से असत्य तर्कवाक्य पर आधारित है तो वह प्रामाणिक नहीं हो सकती। इस तरह प्रामाणिकता की अवधारणा में ही अखंडनीयता का विचार निहित है। अतः प्रामाणिकता से अलग अखंडनीयता को जोड़ना गैर–जरूरी है।

ज्ञान के मानक विश्लेषण में अखंडनीयता को चौथी शर्त के रूप में जोड़ना तार्किक दृष्टि से भी समस्याजनक है क्योंकि इससे हमारी सोच में

ही चक्रक दोष पैदा हो जाता है। यहाँ प्रमाण को अखंडनीय होना अनिवार्य माना गया है और इसके चलते प्रामाणिकता शर्त बड़े ही अटपटे ढंग से अखंडनीयता शर्त पर आधारित हो जाती है। परंतु वास्तव में जो कुछ अखंडनीय है वह ऐसा इस कारण है कि उसके पक्ष में ठोस प्रमाण उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से अखंडनीयता शर्त अंततोगत्वा प्रामाणिकता शर्त पर आधारित है, उसका विस्तार मात्र है।

कारणमूलक समाधान भी निरापद नहीं है। इस उपागम के समर्थक वस्तु स्थिति एवं प्रतिज्ञप्ति के मध्य कारण—कार्य संबंध के आधार पर गेटियर समस्या का समाधान करने की कोशिश करते हैं। परंतु वस्तुस्थिति एवं प्रतिज्ञप्ति दोनों के मूलसंदर्भों में अतिशय भिन्नता है। वस्तुस्थिति या तथ्य वास्तविक जगत् के अंग हैं जबकि प्रतिज्ञप्ति का संदर्भ भाषिक एवं तार्किक होता है। यह ठीक है कि तथ्य प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त होते हैं परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों के मध्य कारण—कार्य का संबंध है। इन दोनों के बीच जो संदर्भगत अंतराल है उसे इतनी आसानी से पाटा नहीं जा सकता।

पुनः कारणता संबंध में किसी प्रकार की अनिवार्यता होने की बात स्वयं संदिग्ध रही है तो फिर उसके आधार पर अनिवार्य शर्त की स्थापना कैसे की जा सकती है? कारण—कार्य संबंध वास्तविक जगत् की अनुभवगम्य घटनाओं के बीच पूर्वापरता का परिचायक है। इस पूर्वपरता के बार—बार अनुभव होने से हमारे भीतर एक विशेष प्रकार की पूर्वापेक्षा बद्धमूल हो जाती है। परंतु उसके आधार पर किसी प्रकार की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती। कारणता तो एक प्रकार का आनुभविक संबंध है जिसमें कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं होती। अतः इसके आधार पर प्रामाणिकता शर्त को स्पष्ट नहीं किया जा सकता जिसे कि मानक विश्लेषण में एक अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।

समापन में कहा जा सकता है गेटियर की समूची तर्क—योजना आकारिक है। ज्ञान की परंपरागत त्रिपक्षीय धारणा का उन्होंने जिस तरह से सूत्रीकरण किया है और उससे जो रोचक निष्कर्ष निकाले हैं उसके मूल में आकारिक तर्कशास्त्र है। यह बात गेटियर की पूर्वमान्यताओं से भी स्पष्ट है जिसका उल्लेख उन्होंने अपने प्रत्युदाहरणों की चर्चा से ठीक पहले किया है। एक बार ऐसी पूर्वमान्यताओं को स्वीकार कर लेने के बाद कतिपय

विचित्र एव विचारोत्तेजक निष्कर्षों पर पहुँचना तार्किक रूप से अपरिहार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, गेटियर की एक पूर्वमान्यता है कि किसी व्यक्ति के लिए ऐसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करना प्रामाणिक हो सकता है जो कि वास्तव में असत्य है।

मानवीय ज्ञान के सामान्यतया मान्य स्वरूप के आलोक में ऐसी पूर्वमान्यता बड़ी अटपटी एवं असंगत लगती है। फिर ज्ञान हमेशा प्रतिज्ञप्तिमूलक ही नहीं होता। कथनीयता से परे मानवीय ज्ञान का एक अंतर्हित आयाम (tacit dimension) भी होता है। ज्ञान–विज्ञान का उद्भव एवं विकास मात्र आकारिक तर्कशास्त्र के आधार पर नहीं होता, अपितु उस पर तो बहुविध कारकों एवं प्रचलित प्रतिमान (Paradigm) का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में भला साक्ष्य, सत्यता, प्रामाणिकता आदि अवधारणाएँ उन कारकों से कैसे अप्रभावित रह सकतीं हैं? अतः मानवीय ज्ञान का एक वास्तविक जीवनगत संदर्भ होता है जहाँ कि वह व्यावहारिक रूप से चरितार्थ होता है। निरे तार्किक–आकारिक विश्लेषण के फेर में पड़कर मानवीय ज्ञान के जीवन्त एवं गत्यात्मक स्वरूप की उपेक्षा स्वीकार्य नहीं हो सकती।

**स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग**
**सिदो कान्हु मुर्मु विश्वविद्यालय**
**दुमका - 814101, (झारखण्ड)**

## संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *Edmund L. Gettier, "Is Justified True Belief Knowledge?" Analysis, 23.6 , 1963, pp.121-123.*
2. *D.J.O' Connor and B. Car, Introduction to the Theory of knowledge, Brighton: The Harvester Press, 1982, pp. 63-64.*
3. *"Plato seems to be considering some such definition at Theatetus 201, and perhaps accepting one at Meno 98." Vide, E.L.Gettier, op. cit ., p.121n1.*
4. *Ibid., p. 121*
5. *R.M. Chosholm, Perceiving: A Philosophical Study, Ithaca, NY: Cornett University Press, 1957, p.16.*

6. *A. J. Ayer, The Problems of Knowledge, London : Macmillann, 1956, p.34.*
7. *I.M. Copi, Symbolic Logic, 5thEdn., New Delhi : Prentice-Hall, 1995, p.34*
8. *Ibid.*
9. *E.L. Gettier, op. cit., 1963, p.121.*
10. *D.J. O'conner and B. Carr, op.cit. 1982, p.78*
11. *T. Baldwin, Contemporary Philosophy: Philosophy in English since 1945, Oxford Universities Press 2001, p.183*
12. *I . Thalberg, "In Defence of Justidied True Belief," Jounal of Philosophy, XVI, 1969, pp. 794-803.*
13. *C Paitharp, "Knowledge as Justified True Belief," Review of Metaphysics, xxiii, 1969, pp. 25-47.*
14. *R.M. Chisholm, Theory of knowledge, 3rdedn., New Delhi : Prentice - Hall of India, 1994, p. 91.*
15. *Ibid., pp. 97-98.*
16. *Ibid., p.98.*
17. *Ibid.*
18. *K. Lehrer and T. Paxson, "Knowledge : Undefeated Justfied True Belief," Journal of Philosophy, 66,1969, p.228*
19. *K. Lehrer, "The Gettier Problem and the Analysis of Knowledge," in G.S. Pappas (ed.), Justification and Knowledge, Springer, 1979, p. 66.*
20. *R. Nozick, Philiosophical Explanations, Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1981, P. 178.*
21. *Ibid., pp. 172-179.*
22. *A. I. Goldman, "A Causal Theory of Knowledge," in G.S. Pappas and M. Swain (eds.), Essays on Knowldege, and Justification, Cornett University Press, 1968,p.98.*
23. *A.I. Goldman, "What is Justified True Belief ?" in G.S. Pappas (eds), op. cit., 1979, p.23.*
24. *M. Swain, "Knowledge, Causality and Justification," in Pappas and Swain (eds.), op.cit., 1978, p.83.*

# रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे : रहस्यवाद एवं धर्म चिंतन

**मोहित टन्डन**

भारत में प्रारंभिक धर्म–चिंतन के बीज ऋत् की भारतीय (वैदिक) संकल्पना में मिलते हैं जो ब्रह्मांड के एक सार्वभौमिक तत्त्वमीमांसीय नियम को सूचित करता है। ऋत् वह ब्रह्मांडीय नियम है जो संपूर्ण अस्तित्व का आधार है और जिसके चलते ब्रह्मांड में एक निश्चित क्रम एवं व्यवस्था है। कालांतर में यही ऋत् का विचार रुपांतरित होकर धर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया। भारतीय दर्शन में धर्म शब्द का प्रयोग अनेक ढंगों में किया गया है। तत्त्वमीमांसीय अर्थ में, नीतिमीमांसीय अर्थ में, द्रव्य के गुण के अर्थ में, क्षणिकता के अर्थ में इत्यादि। मूलतः धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है धारण करना। धर्म को परिभाषित करते हुये कहा गया है,'ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोकं वा', या 'ध्रियते लोकोऽनेन धरति विश्वमिति धर्म' ।[1]महाभारत में भी कहा गया है, 'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः। यः स्यात् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः' ।[2]अर्थात् धर्म वह तत्त्व है जो संपूर्ण लोक या विश्व को, समूची प्रजा या समाज (उसके नैतिक आचरण सहित) को धारण करता है। यहाँ धर्म का अर्थ उस तत्त्व से लिया गया है जो समस्त विश्व को धारण किये हुये है; अर्थात् वह तत्त्व जो समस्त विश्व का मूल आधार है। धर्म एक धारक तत्त्व है। धारक तत्त्व के रूप में यह समस्त विश्व का प्राण है। वहीं दूसरी ओर, धर्म को इस तरह भी व्याख्यायित किया गया है कि यह तत्त्व (पदार्थ) का स्वभाव या गुण–धर्म है। विश्व में जो कुछ भी हो रहा है वह स्वभावगत गुण–धर्म के कारण हो रहा है। इस व्याख्या के अनुसार, सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी, सरिता आदि सभी अपने–अपने धर्म का पालन करते हैं। इसी कारण विश्व–जीवन चलता रहता है। यदि इनमें से कोई अपना धर्म पालन न करे या गुण–धर्म खो दे तो जीवन संकट में आ जायेगा। यदि सूर्य अपना कार्य न करे, अग्नि अपना


**ISSN-0974-0053**
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

दाहक—धर्म खो दे, तो विश्व का अस्तित्व ही न रहेगा। अतः धर्म का अर्थ उस परमसत्य या परमतत्त्व को जानना है जो विश्व की समस्त वस्तुओं को धारण किये हुये है तथा जिसके कारण विश्व का प्रत्येक कण अपने कार्य में लगा हुआ है या अपने धर्म का पालन कर रहा है। इस प्रकार, धर्म की यह भारतीय संकल्पना रिलीजन या पंथ की पाश्चात्य संकल्पना से नितांत भिन्न व अत्यंत व्यापक है। रिलीजन या पंथ की पाश्चात्य संकल्पना में किसी संस्थापक, प्रवर्तक या संदेशवाहक की पूर्वमान्यता भी अन्तर्निहित है। किंतु भारतीय (वैदिक) परम्परा में ऐसी कोई पूर्वमान्यता अन्तर्निहित नहीं है। इसी अर्थ में इसे अपौरुषेय व सनातन मान लिया जाता है। धर्म की यह व्यापक संकल्पना ही ऋग्वैदिक उद्घोषणा 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' में संकेतित है।

वहीं दूसरी ओर, यदि पाश्चात्य धर्म—दर्शन / चिंतन (Philosophy of Religion) की दृष्टि से देखें तो धर्म का अर्थ एक विशेष पंथ या परंपरा, एक सामाजिक संस्था या एक जीवन पद्धति होता है। धर्म उस सार तत्त्व (essence) को सूचित करता है जिसे परंपराओं व संस्कृतियों में सार्वभौमिक रूप से 'धार्मिक' स्वीकार किया जाता है। यदि धर्म को इस परिभाषिक अर्थ में देखें तो धर्म एक ऐसी वैचारिक संयोजना है जो जगत् और इसमें मानव के स्थान की व्याख्या प्रस्तुत करती है। यह संयोजना इस बात की भी व्याख्या करती है कि मानव—आत्म का स्वरूप क्या है, उसका जगत् से किस प्रकार का सम्बन्ध है, उसका स्वरूप क्या है। यह, साथ ही, यह भी प्रस्तावित करती है कि प्रस्तुत व्याख्या या विश्व—दृष्टि (world-view) के आलोक में मनुष्य को जीवन कैसे जीना चाहिये। यह दार्शनिक चिंतन—संयोजना मनुष्य व जगत् की अपनी व्याख्या व उससे सम्बन्धित जीवन—पद्धति एवं शैली को कुछ विशेष संस्थाओं, प्रथाओं व आचार पद्धतियों में अभिव्यक्त करती है।

इस प्रकार, धर्म, सम्बन्धित सदस्यों को जगत् व इसमें उनका स्थान विषयक एक दृष्टिकोण प्रदान करता है। धर्म इसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का संयुक्त रूप है। जिसमें कोई भी दूसरे के बिना अर्थहीन है। दार्शनिक शब्दों में कहें तो धर्म की अपनी एक तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिमीमांसा एवं आचारमीमांसा होती है तथा इन सभी का संयुक्त रूप धर्म के रूप में अभिव्यक्त होता है। धर्म का एक दार्शनिक भाग और एक व्यावहारिक भाग होता है जिनमें परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। कांट

की भाषा में कहें तो, सिद्धान्त आचार के बिना पंगु और आचार सिद्धान्त के बिना अन्ध है।

श्री अरविन्द भी कहते हैं कि एक धर्म जो दार्शनिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति नहीं है अर्थात् जिसका कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है वह अन्धविश्वास और रूढ़िवाद के स्तर पर उतर आता है, निम्न श्रेणी का है, और एक दर्शन या (सिद्धान्त) जो धार्मिक चेतना से जीवन ग्रहण नहीं करता एक थोथा प्रकाश है क्योंकि वह स्वयं को व्यवहार में नहीं उतरवा सकता।[3] अतः यहाँ दोनों समान रूप से आवश्यक हैं। धर्म, इसके दार्शनिक तत्त्व व व्यावहारिक तत्त्व दोनों की संयुक्त अभिव्यक्ति है।

इस धर्म–दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यूं तो रानाडे की धर्म संकल्पना भी एक विशेष धर्म या पंथ से उत्पन्न दिखती है जिसका अपना एक दर्शन (तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिमीमांसा) है और जो एक आचार मीमांसा प्रस्तावित करता है। इस अर्थ में रानाडे के धर्म–सम्बन्धी विचार का स्रोत हिन्दू धर्म है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि रानाडे के लिए बस यही धर्म नहीं है। बल्कि उनकी दृष्टि में धर्मतत्त्व कहीं अधिक सूक्ष्म, गहरा एवं व्यापक है। और वह है ब्रह्म/ईश्वरीय अनुभव, जिसे वह ईश्वर प्राप्ति या ईश्वर–साक्षात्कार के रूप में वर्णित करते हैं। रानाडे के शब्दों में, "हमारे लिये इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है कि भिन्न–भिन्न दार्शनिकों और ईसाईयों, मुस्लिमों, जैनों, बौद्धों, वैष्णवों या लिंगायतों ने ईश्वर प्राप्ति के लिये क्या (मार्ग) प्रतिपादन किया है बल्कि इस बात का विश्लेषण करना आवश्यक है कि इन दर्शनों और धर्मों के पीछे क्या तत्त्व निहित है। तब हम यह दिखा पायेंगे कि सभी (धर्मों) में अनिवार्यतः एक ही प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा व्याप्त है।"[4]

इस प्रकार, रानाडे अपने धर्म–चिंतन के मूल–तत्त्व को ईश्वरीय ज्ञान या ईश्वर–प्राप्ति मानते हैं और इसे वह रहस्यानुभव के रूप में व्याख्यायित करते हैं। विवेकानन्द की भाँति रानाडे का भी मत है कि सभी धर्मों का मुख्य उद्देश्य यही ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना है। किंतु रानाडे का ऐसा विचार मात्र बौद्धिक चिंतन पर आधारित उपलब्धि नहीं है बल्कि यह धार्मिक अनुभव की परिणति है। यहाँ धार्मिक अनुभव से तात्पर्य किसी पंथ या साम्प्रदायिक अनुभव से नहीं है बल्कि एक ऐसे रहस्यानुभव से है जो सभी साम्प्रदायिक सीमाओं के पार है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस रहस्यानुभव

को रानाडे ने उपनिषदों की दार्शनिक भाषा में व्यक्त एवं व्याख्यायित किया है।

यदि यह पूछा जाए कि जिस तरह किसी भी धर्म की आधारशिला उसका दर्शन होती है उसी तरह क्या रानाडे की धर्म संकल्पना की कोई दार्शनिक आधारशिला है? स्पष्ट है, उत्तर सकारात्मक होगा। चूँकि रानाडे का चिंतन हिन्दू धर्म व वेदान्त दर्शन से ओत–प्रोत है तो कोई कह सकता है कि रानाडे का धर्म–चिंतन अद्वैत वेदान्त दर्शन पर आधारित है। किंतु यह कहना सटीक न होगा। रानाडे का दार्शनिक विचार रहस्यवाद है और उनके दर्शन की आधारशिला औपनिषदिक तत्त्वमीमांसा है। वे स्वयं अपने दर्शन को आनन्दवाद कहते हैं।[5] यद्यपि यहाँ यह दार्शनिक प्रश्न बना रहता है कि उनके रहस्यवाद को क्या दर्शन कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी सिद्धांत को दर्शन होने के लिये जिस व्यवस्थित बौद्धिक व तार्किक संयोजना की आवश्यकता होती है, जैसी संयोजना शंकर, रामानुज और नागार्जुन के दर्शन में, या अन्य भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में मिलती है, उसका रानाडे के चिंतन में अभाव है। तथापि उनके विचार को पूर्णतया अ–दार्शनिक मानकर निरस्त कर देना भी अनुचित होगा। दर्शन के सरोकारों से ओत–प्रोत होने के नाते उन्हें दर्शन की संप्रत्यात्मक कोटियों व उनमें भेद का भलीभाँति ज्ञान था और इसी के माध्यम से उन्होंने अपने रहस्यवाद को दार्शनिकता प्रदान करने का कठिनतम व असाध्य प्रयास किया। यह अलग बात है कि उनका प्रयास कितना सफल है और यह परीक्षण व विवाद का विषय है। यहाँ रानाडे के रहस्यवादी दर्शन व उससे निगमित धर्म–चिंतन की चर्चा ही मुख्य विषय है।

रानाडे का रहस्यवाद उनके उपनिषदीय व वेदांत दर्शन के अध्ययन एवं व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभवों का परिणाम है। यह उनका ब्रह्मवाद है जो संज्ञानात्मक अनुभव पर आधारित है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सत्–चित्–आनन्द बताया गया है तथापि ब्रह्म मूलतः चित् (ज्ञान) स्वरूप ही है। जो भी सत् है वह आनन्द स्वरूप है; वह चेतना मात्र ही है। वह चेतना का/संज्ञानात्मक अनुभव का विषय है। अतः अन्ततः संज्ञानात्मक चेतना या अनुभवात्मक चेतना ही सद्रूप है। इसी को 'सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। स्पिनोजा, हेगल एवं ब्रेडले जैसे दार्शनिकों से शंकर के अद्वैत की तुलना इसी आधार पर की जाती है, क्योंकि इन

पाश्चात्य विचारकों ने भी परम तत्त्व को चेतना या विज्ञान मात्र के रूप में वर्णित किया है। किंतु, संगमलाल पाण्डेय जैसे विचारक मानते हैं कि रानाडे ने अपने दर्शन में उपनिषद् के सत् व चित् तत्त्व की तुलना में उसके आनन्द तत्त्व पर अधिक बल देते हैं और उसी को मूल तत्त्व माना है। इसीलिए रानाडे का तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण शंकर के अद्वैतवादी दृष्टिकोण से भिन्न है।[6] यहाँ समस्यात्मक बात यह है कि आनंद मूलतः अनुभव की अर्थात् संज्ञान की कोटि है, उसे मूल–तत्त्व कैसे बनाया जा सकता। लक्षण को तत्त्वरुप में प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। दोनों एक बात कैसे हो सकते हैं? रानाडे के रहस्यवाद में अनुभवात्मक–संज्ञानात्मक पक्ष की प्रधानता है। संगमलाल पाण्डेय स्वयं स्वीकारते हैं कि रानाडे के तत्त्वमीमांसीय चिंतन की विशेषता है कि यद्यपि यह आनन्दतत्त्व रहस्यवादी है तथापि रानाडे के मत में यह ज्ञानात्मक व बौद्धिक विश्लेषण का परिणाम है, उसी का चरम उत्कर्ष है। फिर भी उनका निष्कर्ष यही है कि स्पिनोजा का द्रव्यवाद, हेगल का विज्ञानवाद और शंकर का अद्धैतवाद रानाडे के दर्शन में आकर आनन्दवाद में परिणत हो गया है।[7] हालाँकि रानाडे सत् के अपने अनुभव को रहस्यात्मक कहते हैं व इसे इन्द्रियानुभव से भिन्न मानते हैं फिर भी यह है तो संज्ञानात्मक अनुभव ही। उनके अनुसार, ऐसे रहस्यात्मक ज्ञान हेतु किसी अन्य संज्ञानात्मक स्रोत की आवश्यकता होगी और वह है अन्तःप्रज्ञा (Intution)। यह प्रातिभ ज्ञान है जो इन्द्रियानुभव व विकल्पात्मक बुद्धि से अधिक उच्चकोटि का ज्ञान है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में सामान्यतः विज्ञानवादी, प्रत्ययवादी दर्शन इस कोटि को स्वीकार करते हैं जबकि वस्तुवादी दर्शन इसे अस्वीकार करते हैं। रानाडे विज्ञानवादी या अध्यात्मवादी होने के नाते ही यह मान लेते हैं कि इन्द्रियों व बुद्धि की कोटियों से परे होने के कारण यह ज्ञान रहस्यात्मक अनुभव की कोटि में आ जाता है। रानाडे के अनुसार, दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य इसी स्तर का ज्ञान–प्राप्ति होना चाहिये। यही दर्शन की वास्तविक परिणति है। यही संज्ञानात्मक चेतना या बुद्धि का चरम उत्कर्ष है। रानाडे मानते हैं कि दर्शन (तत्त्वमीमांसा) और धर्म (रहस्यवाद) परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं और इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ स्पष्ट है कि रानाडे की यह पूर्वमान्यता है कि दर्शन व धर्म यूं परस्पर गुंथे हुए हैं कि इन्हें अलग किया ही नहीं जा सकता। यह सही है कि भारतीय पारंपरिक दृष्टि में दर्शन मात्र बौद्धिक

विश्लेषण नहीं है बल्कि इसमें यह मान्यता भी निहित है कि इसका उपयोग जीवन के परम आदर्शों, पुरूषार्थों या लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किया जाना चाहिये, किंतु यह भी सही नहीं है कि दोंनों तर्कतः अलग नहीं हो सकते। फिर भी दोनों को अलग न करने के पीछे रानाडे का उपयोगितावादी तर्क है कि यदि इन्हें अलग–अलग कर दिया जायेगा तो दोनों ही अपनी अर्थवत्ता व शक्ति खो देंगे। एक के अभाव में दूसरा निर्बल व अपूर्ण रह जायेगा।[8] उनके मत में, दर्शन व धर्म, चिंतन (ज्ञान) व कर्म, योग और भक्ति अन्तर्सम्बन्धित हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। यहाँ तक कि रानाडे दर्शन व धर्म की परस्पर पूरकता को राष्ट्र की मुक्ति हेतु अनिवार्य मानते हैं।[9]

रानाडे दर्शन और धर्म की अन्योन्याश्रितता को एक विशेष अर्थ में लेते हैं जिस कारण वह अन्य समकालीन भारतीय दार्शनिकों से पृथक् हो जाते हैं। दर्शन व धर्म की अन्योन्याश्रितता को वह इस अर्थ में लेते हैं कि दर्शन की परिणति अनिवार्यतया रहस्यानुभूति में होनी चाहिये। उनके शब्दों में, 'रहस्यवाद उपनिषदीय दर्शन की परिपूर्णता है, यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।'[10] स्पष्टतया रानाडे का यह कथन अतिसामान्यीकरण के दोष से ग्रसित है। यह तथ्यात्मक रूप से असत्य है कि सभी दर्शनों का लक्ष्य रहस्यानुभूति ही रही है। फिर भी, रानाडे के उपयुर्क्त कथन को अक्षरशः न स्वीकार करते हुए भी हम इसे उनके प्रस्ताव के रूप में ले सकते हैं, जिसमें वह दार्शनिक प्रक्रिया का प्रारम्भ तत्त्वमीमांसीय चिंतन से करने की बात करते हैं और इसे इसके परिणाम तक पहुँचाने की वकालत करते हैं। और उनके मत में यह अन्तिम परिणाम धार्मिक ही है जिसे वे रहस्यानुभूति कहते हैं। रोचक किंतु समस्यात्मक बात यह भी है कि वस्तुतः रानाडे ऐसा नहीं मानते कि दर्शन व रहस्यवाद में कोई आत्यन्तिक भेद है। अर्थात् वह इन्हें नितान्त भिन्न नहीं मानते। यहाँ तक कि वह दार्शनिकों व सन्तों को एक ही स्तर पर लाने का प्रयास करते हैं। अपने ग्रंथ "मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र" में वह पश्चिमी विचारक प्लॉटिनस, रहस्यवादी एखार्ट व महाराष्ट्रीय संत ज्ञानेश्वर आदि को एक ही स्तर पर लाकर देखते हैं। जहाँ एक ओर इन्हें रहस्यवादी एवं सन्त के रूप में देखते हैं वहीं दूसरी ओर वे इन्हें प्रखर बुद्धिवादी दार्शनिक भी बताते हैं। यहाँ यह भी समस्यात्मक है कि रानाडे उन्हीं पश्चिमी विचारकों को दार्शनिक की श्रेणी में रखते हैं जो विज्ञानवादी, प्रत्ययवादी हैं। सम्भवतः उनकी दृष्टि में भौतिकवादी, प्रकृतिवादी या

वस्तुवादी दार्शनिक वस्तुतः (सच्चे) दार्शनिक नहीं होंगे या होंगे तो अपूर्ण अर्थ में ही। पश्चिमी व पूर्वी दार्शनिकों, रहस्यवादियों एवं सन्तों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वे यही दिखाने का प्रयास करते हैं कि अन्तःप्रज्ञावाद ही वास्तविक दर्शन है। किंतु ऐसा मानना दार्शनिक दृष्टि से समस्यात्मक है। हालाँकि उनके धर्म–चिंतन की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि हिन्दी, मराठी व कन्नड़ भाषी संतों व कवियों के अपने तुलनात्मक अध्ययन से रानाडे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि अन्तःप्रज्ञा अर्थात् अन्तरानुभूति आधारित तत्त्वज्ञान किसी देश–काल में सीमित नहीं होता। उनके अनुसार, वस्तुतः यह अनुभव या प्रातिभज्ञान सभी देश–कालों में एक सा ही है,केवल अभिव्यक्तियों में भिन्नता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि रानाडे का रहस्यवाद उपनिषदीय तत्त्वज्ञान से प्रेरित है,उनके मत में परम सत् का या पारमार्थिक सत्य का जैसा वर्णन उपनिषदों में किया गया है वैसा कहीं और नहीं मिलता। यद्यपि सभी धर्मों/दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य इसी परम सत् को जानना व उसका वर्णन करना है तथापि अन्य धर्मों के वर्णनों/दर्शनों की अपेक्षा रानाडे को उपनिषदीय दर्शन/वर्णन कहीं अधिक प्रिय व संतोषप्रद लगता है। यहाँ तक कि वे मानते हैं कि उपनिषदों में परम सत् का ऐसा स्वरुप प्रतिपादित है जिससे मनुष्य की वैज्ञानिक, दार्शनिक व धार्मिक सभी आकाँक्षायें सन्तुष्ट होती हैं।[11] उनके अनुसार, उपनिषद् सत् का ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जो अन्तःप्रज्ञा या रहस्यानुभूति के द्वारा ही प्रतिपादित हो सकता है। यह ऐसा दृष्टिकोण है जिसे सभी दर्शन (धर्म भी) अपने अन्तिम लक्ष्य के रूप में किसी न किसी तरह इंगित कर सकते हैं। अर्थात् रानाडे के मत में उपनिषदीय दर्शन परम सत् या परम तत्त्व के दर्शन के रूप में सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प है। उनके अनुसार, यद्यपि धर्म के रूप (पंथ) अनेक हैं किंतु उनमें अर्न्तनिहित सत्य एक ही है। उनमें संघर्ष इसलिये है क्योंकि वे अपने भिन्न सिद्धान्तों व विवरणों के कारण परस्पर अनन्य (तादात्म्यीकृत) नहीं हो सकते, एक समान नहीं हो सकते। उपनिषदीय सत्य सभी धर्मों (पंथों) में निहित उसी परम सत्य को परिलक्षित करता है।[12] रानाडे के अनुसार, दार्शनिकों व सन्तों के वर्णनों में भेद अवश्य है किन्तु इससे यह बात निगमित नहीं होती कि उनके अनुभवों में भी भेद है। रानाडे यहाँ बिना किसी दार्शनिक एवं तार्किक विचारणा दिये यह मान ले रहे हैं कि सभी दार्शनिकों

व सन्तों का परम सत् का अनुभव एक समान है। जबकि भारतीय दर्शन के अलग–अलग प्रस्थानों में धर्म के अन्तिम लक्ष्य जैसे मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग, जीवन–मुक्ति व विदेह–मुक्ति आदि संकल्पनाओं का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बताता है कि इनसे सम्बन्धित अनुभवों को एक ही समान मान लेना दार्शनिक भूल है। दूसरे, रानाडे यहाँ प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी, अध्यात्मवादियों को ही दार्शनिक के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि इन्हें भी एक जैसा दार्शनिक मान लेना और एक ही जैसे दार्शनिक सत्यों को स्वीकार करने वाला मान लेना भी रानाडे की दार्शनिक भूल है।

फिर भी यदि धर्म–चिंतन की दृष्टि से देखें, तो महत्त्वपूर्ण है कि रानाडे सभी धर्मों को ईश्वर–प्राप्ति के विभिन्न मार्ग (Pathways) के रूप में देखते हैं और इनके अनुसार, सभी धर्मों का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर–प्राप्ति ही है। सभी मार्ग ईश्वर–प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। यदि हम रानाडे की ईश्वर संकल्पना को उनके रहस्यवादी दर्शन की दृष्टि से समझने का प्रयास करें तो हम पाते हैं कि उनके लिये ईश्वर–प्राप्ति ईश्वर–साक्षात्कार ही है। उसे ब्रह्म साक्षात्कार भी कह सकते हैं। स्पष्ट है कि रानाडे ईश्वर पद से किसी व्यक्तित्व या सगुण आकार का संकेत नहीं करते बल्कि ईश्वर के निराकार रूप को ही इंगित करते हैं। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसे ईश्वर 'की' प्राप्ति या ईश्वर 'का' अनुभव कहना भी अनुचित होगा क्योंकि रानाडे के लिए यह रहस्यानुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिसे वह ईश्वरानुभूति या ईश्वर–साक्षात्कार कहते हैं वह अन्ततः अपरोक्षानुभूति, अन्तःप्रज्ञा या रहस्यानुभूति ही है।

पुनश्च, रानाडे के लिए अन्तःप्रज्ञा, रहस्यानुभूति या अपरोक्षानुभूति, बुद्धि विरोधी नहीं है। बल्कि दोनों अन्तर्सम्बन्धित हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। रानाडे के मत में (बौद्धिक) चिंतन का अन्तिम चरण यह रहस्यानुभूति ही है। उनके अनुसार, वही रहस्यानुभूति सार्थक है जिसे बौद्धिक अर्थात् दार्शनिक रूप दिया जा सके।[13] इसीलिए रानाडे जहाँ एक ओर प्लॉटिनस, हेगेल, ब्रैडले, स्पिनोजा, शंकराचार्य आदि (पूर्वी व पश्चिमी) दार्शनिकों को अपने तत्त्व–चिंतन में स्थान देते हैं वहीं दूसरी ओर उपनिषद् के ऋषियों याज्ञवल्क्य, सनत्कुमार आदि को और पूर्वी–पश्चिमी संतों जैसे सूर, कबीर, तुलसी, ज्ञानेश्वर एवं संेटपॉल व संेट ऑगस्टीन आदि को भी

उसी स्तर का स्थान देते हैं। स्पष्ट है कि रानाडे दार्शनिक, वैचारिक कोटिगत भिन्नताओं को यहाँ अनदेखा कर अनुपयोगी मान लेते हैं। वह इन सभी चिंतकों को दार्शनिक एवं सन्त दोनों की कोटि में रख देते हैं। इसके पीछे उनकी फिर वही पूर्वमान्यता है कि यह सभी चिंतक कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में एक ही सत्य को उद्घाटित करते हैं। या यह कहना उचित होगा कि रानाडे इन तार्किक व सम्प्रत्ययात्मक भेद को जानबूझकर अनदेखा करते हैं क्योंकि उनका अभिप्रेत इनसे आगे जाकर उस परिणाम को प्राप्त करना है जो उनके मत में सभी के विचारों में एक ही जैसा है। रानाडे का यह दृष्टिकोण परिणामवादी या उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी है। रानाडे धर्म व दर्शन को परस्पर सम्बन्धित इसी अर्थ में मानते हैं कि दार्शनिक प्रक्रिया का कुछ परिणाम निकलना चाहिये, कुछ सफलता प्राप्त होनी चाहिए। अर्थात् दर्शन की परिणीति अनिवार्यतः धर्म में होनी चाहिए। अर्थात् रहस्यानुभूति की उपलब्धि होनी चाहिए, कुछ ऐसा जिससे जीवन में कुछ रूपान्तरण हो सके।

इसी तरह की दार्शनिक चिंतन–प्रक्रिया के क्रम में साधन के तौर पर रानाडे साधना के साथ–साथ भक्ति पर भी बल देते हैं। उनकी परम तत्त्व की रहस्यानुभूति भक्ति व पूर्ण समर्पण की भावना से युक्त है। उनके अनुसार, परमानन्द या रहस्यानुभूति कोई शारीरिक या मनोवैज्ञानिक अनुभव या भावना मात्र नहीं है, बल्कि यह ईश्वरानुभूति है। जिसमें अनुभूति के साथ–साथ ईश्वर के प्रति समर्पण व नित्य प्रेम अंतर्निहित है।[14] उनके अनुसार, यह ऐसी अनुभूति है जिसे बुद्धि की कोटियों या विचार से वर्णित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, यह अनिवर्चनीय है। किन्तु यह बुद्धि–विरोधी भी नहीं है। बल्कि रानाडे का मत है कि ऐसी रहस्यानुभूति के परिणाम स्वरूप बुद्धि और भी प्रखर व विकसित हो जाती है और तब दर्शन का जन्म होता है, अर्थात् रहस्यवादी, दार्शनिक सिद्धान्त दे पाता है। पुनः, यह कहना कि सभी दर्शनों के जन्म के मूल में रहस्यानुभूति है, समस्यात्मक है। साथ ही, रानाडे यह भी स्वीकार करते हैं कि यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है कि सभी सन्त या रहस्यवादी दार्शनिक हों ही। बहुत से सन्त व रहस्यवादी, दार्शनिक नहीं भी हो सकते हैं। रानाडे इसीलिए सन्त व दार्शनिक परम्पराओं में उन्हीं का चुनाव करते हैं जिन्हें उनकी दृष्टि में दोनों कोटियों में रखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि रहस्यानुभूति से बुद्धि की

प्रखरता परिणमित होती है। रानाडे अपनी ईश्वरानुभूति को ईश्वर के प्रति प्रेम के रूप में प्रस्तुत करते हैं और साथ ही उसे बौद्धिकता के अनुकूल भी मानते हैं। यह कुछ–कुछ स्पिनोजा के 'ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम' के विचार से मेल खाता है, यद्यपि ठीक एक जैसा भी नहीं है। गुणवत्ता की दृष्टि से रानाडे अपने ईश्वर–प्रेम को कहीं अधिक उच्च कोटि का मानेंगे।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि रानाडे के मत में रहस्यवादी सन्त/दार्शनिक का समाज से कोई सम्बन्ध रहता है या नहीं? यदि रहता है तो वह सम्बंध किस प्रकार का है? यहाँ यह उत्तर हो सकता है कि रहस्यवादी की स्थिति जगत् में और समाज में 'जीवनमुक्त' की स्थिति जैसी होती है।

श्री अरविन्द की भाँति रानाडे भी अपने रहस्यवाद में मानव जीवन को समाज से जोड़कर देखते हैं। रानाडे के मत में रहस्यवादी अनिवार्यतः किन्हीं अर्थों में समाजसेवी होगा ही। क्योंकि वह अब सभी मानवों में ईश्वर का अंश ही देखेगा, उसे ईश्वररूप ही पायेगा और स्वभावतः वह उनके प्रति भी सेवाभाव रखेगा। समाजसेवा न करने वाला सच्चा रहस्यवादी नहीं हो सकता। रानाडे के अनुसार, रहस्यवादियों में स्वभाव (temperament) का भेद हो सकता है। कोई रहस्यवादी सामाजिक रूप से खूब सक्रिय हो सकता है, कोई कम। किंतु ऐसा समझना गलत होगा कि रहस्यवादी पलायनवादी होता है या समाज के प्रति पूर्णतया उदासीन होता है; क्योंकि रानाडे के मत में यह रहस्यवाद की सच्ची अवधारणा से असंगत होगा। इसके उलट रहस्यवादी समाज व मानवता के प्रति अत्यंत संवेदनशील होगा और वह उनके जागरण व कल्याण हेतु सदैव तत्पर होगा।[15]

श्री अरविन्द की भाँति रानाडे भी उपनिषदीय दर्शन की सुसंगति आधुनिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किंतु रानाडे वैज्ञानिक शब्द को व्यापक व ढीले अर्थ में प्रयोग करते हैं। वह मानते हैं कि उनका रहस्यवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ संगत इसलिए है, क्योंकि यह अनुभव पर आधारित है। इसमें भी विज्ञान की भाँति प्रयोगशीलता आवश्यक है। रानाडे अनुभव की प्रामाणिकता पर बल देते हैं। धर्म को अनुभव पर खड़ा करते हैं। धार्मिक अनुभव या रहस्यानुभूति कोरी कल्पना या अंधविश्वास नहीं है। यह तत्त्व का साक्षात् दर्शन है। धार्मिक अनुभव ही रहस्यवाद में परिणत होता है। मात्र कर्मकाण्ड, पाखंड या

ज्ञानरहित विश्वास से धर्म का अन्तःसत्य उद्‌घाटित नहीं हो सकता। उसके लिए साधना–कर्म आवश्यक है, जिसका परिणाम तत्त्व की ज्ञान–प्राप्ति व भक्ति है। रानाडे के मत में रहस्यवादी का नैतिक व सामाजिक जीवन ही उसके ज्ञान का प्रमाण है। ज्ञान व कर्म परस्पर संयुक्त हैं। श्री अरविन्द की भाँति रानाडे भी धर्म के व्यावहारिक पक्ष को दिव्य जीवन की प्राप्ति हेतु साधन के रूप में देखते हैं। किंतु रानाडे श्री अरविन्द की भाँति दिव्य जीवन की कोई बौद्धिक विकासवादी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। इस अर्थ में उनके चिंतन में वैज्ञानिकता का पुट कम लगता है। उनके लिए धर्म की पराकाष्ठा ईश्वर–भक्ति व प्रेम है। जबकि श्री अरविन्द के लिए यह पूर्ण योग (Integral Yoga) है और पूर्ण योग उनके 'दिव्य जीवन' की संकल्पना का तार्किक परिणाम है। श्री अरविन्द के 'दिव्य जीवन'की संकल्पना में मानव शरीर, भौतिक जगत् की भी दिव्यता निहित है, क्योंकि यह चेतना के दैवीय विकास का ही एक स्तर है। वहीं रानाडे के रहस्यवाद में इस प्रकार के विचार का अभाव है। वह ईश्वर प्रेम के आगे जगत् व मानव की भौतिकता को महत्त्व देते नहीं दिखते।[16]

यह सत्य है कि रानाडे धर्म को दार्शनिक विश्लेषण द्वारा बौद्धिक सत्यों का रूप देने का प्रयास करते हैं फिर भी उनका प्रयास श्री अरविन्द की तुलना में उतना सफल नहीं है। क्योंकि रानाडे उस बौद्धिक– तार्किक संयोजना को स्पष्ट नहीं करते जिसके परिणाम स्वरूप वह रहस्यवादी निष्कर्ष निकालते हैं। बस इतना है कि वह पश्चिमी दर्शन की पदावली का प्रयोगकर पूर्वी एवं पश्चिमी दार्शनिकों, सन्तों व रहस्यवादियों का तुलनात्मक अध्ययन कर अपने रहस्यवाद, जिसका स्वरूप आनन्दवादी है, की स्थापना करते हैं। यह भी सही नहीं है कि पाश्चात्य रहस्यवाद व उपनिषदीय ब्रह्मवाद एक ही है। पाश्चात्य रहस्यवाद ईश्वर–केंद्रित है और रानाडे भी अपने रहस्यवाद को ठीक ऐसा ही देखते हैं जो कि एक समस्यात्मक बात है, क्योंकि वे उपनिषदीय चिंतन में अपने रहस्यवाद का आधार खोजते हैं और उपनिषदीय चिंतन को ईश्वर–केंद्रित कहना सटीक न होगा, कम से कम पाश्चात्य ईश्वर–केंद्रित रहस्यवाद के अर्थ में तो नहीं।

जैसा कि पहले भी कहा गया कि रानाडे उपयोगितावादी या परिणामवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, जिसका उद्‌देश्य है मानव आकाँक्षाओं व आशाओं की पूर्ति। रानाडे मानते हैं कि मानव में न केवल बौद्धिक सत्यों

को जानने की आकाँक्षा होती है बल्कि सुख व आनंद प्राप्ति की भी आकाँक्षा होती है। पहली दर्शन या दार्शनिक चिंतन से संतुष्ट होती है और दूसरी धर्म से। पहले का सम्बन्ध मस्तिष्क (बुद्धि) की संतुष्टि से है, दूसरी का हृदय (भावना) की संतुष्टि से है। इस प्रकार, रानाडे के चिंतन में यदि दर्शन बुद्धि विलास है तो धर्म हृदय विलास। वह कहते हैं, 'किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त, चिंतन प्रक्रिया का औचित्य व उपयुक्तता इस बात से सिद्ध होती है कि वह मानव की मूल आकाँक्षाओं की संतुष्टि करता है या नहीं, इस बात से सिद्ध होती है कि वह मानवीय जीवन को नैतिक व दिव्य बनाने में सक्षम है या नहीं।'[17] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि हृदय विलास की विषयवस्तु धर्म और बुद्धि विलास की विषयवस्तु दर्शन भिन्न–भिन्न है व दोनों को समझने का ढंग (मार्ग) अलग–अलग है तो क्या यह आवश्यक है कि धर्म को बौद्धिक या दार्शनिक रूप दिया जाय? रानाडे के मतानुसार, यह आवश्यक है कि धर्म का बौद्धिक या दार्शनिक स्वरूप हो क्योंकि दूसरों तक पहुँचाने के लिये बुद्धि का आश्रय लेना पड़ेगा, नहीं तो धर्म के सारतत्त्व रहस्यानुभूति को व्यक्तिगत कल्पना मानकर निरस्त कर दिया जायेगा। इसीलिये धर्म व रहस्यानुभूति को बौद्धिक कोटियों द्वारा समझाने का प्रयास करते हैं और इस अर्थ में धर्म को बौद्धिक–दार्शनिक आधार देते हैं। इस तरह रानाडे धार्मिक अनुभव को अनिवर्चनीय व अवर्णनीय बताकर धर्म को दर्शन के क्षेत्र से बाहर करने के इच्छुक नहीं हैं। वह विलियम जेम्स की भाँति धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता पर बल देते हैं।

यह भी कि रानाडे की धर्म संकल्पना के मूल में वह अनुभव तत्त्व है जो, उनके अनुसार, सभी धर्मों के मूल में उपस्थित है। उसे, उनकी दृष्टि में, केवल रहस्यवादी अर्थों में ही समझा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि रहस्यवाद क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में रानाडे इसकी कुछ चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। एक तो, यह ईश्वर–साक्षात्कार का दर्शन है और यह अंतःप्रज्ञा द्वारा ही संभव है। अंतःप्रज्ञा बुद्धि, भावना व इच्छा से भिन्न है। रानाडे अंतःप्रज्ञा को समझाते हुये स्पष्ट करते हैं कि यह पश्चिमी विचारक कांट की Intution की संकल्पना से भिन्न है। कांट इसे प्रत्यक्ष के एक विशेष रूप में स्वीकार करते हैं किंतु रानाडे के अनुसार, यह इंद्रिय–अनुभव या मानस–प्रत्यक्ष भी नहीं है बल्कि यह अतींद्रिय अनुभव है जो आध्यात्मिक अभ्यास से संभव होता है। रानाडे स्वीकारते हैं कि कांट के

दर्शन ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। कांट के दर्शन में चिंतन व अनुभव दोनों की जितनी सुस्पष्ट व सुसंगत व्याख्या मिलती है वह अन्यत्र नहीं है। कांट की तीन Critiques इसका प्रमाण है। किंतु रानाडे कहते हैं कि कांट के दर्शन को भारतीय दार्शनिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि कांट में एक अवयव का अभाव है, और वह है, अंतःप्रज्ञा या प्रातिभ ज्ञान की क्षमता। यद्यपि कांट के अनुवादकों ने यह शब्द प्रयोग किया है किंतु यह प्रत्यक्ष से अधिक कुछ नहीं है। वस्तुतः अंतःप्रज्ञा अति–इंद्रिय अनुभव (Super-sensuous) है और इसी से आध्यात्मिकता का प्रारंभ होता है। अंतःप्रज्ञा द्वारा उन तत्त्वों का ज्ञान होता है जो बुद्धि को अज्ञात हैं। रानाडे कहते हैं कि कांट को पढ़ने के बाद जब उन्होंने गीता का अध्ययन किया तो उन्हें इस कमी का अहसास हुआ।[18] किंतु यहाँ कहना अनुचित न होगा कि कांट को आध्यात्मिक दृष्टि से पढ़ने की कोई दार्शनिक अनिवार्यता नहीं है। बल्कि ऐसा करना कांट की मूल दार्शनिक वृत्ति, ज्ञानमीमांसीय भावना के विरूद्ध होगा क्योंकि विज्ञान द्वारा प्रस्थापित सत्यों की सीमा के अन्दर ही ज्ञान की विवेचना करना कांट को अभिप्रेत था।

रानाडे के मत में रहस्यवादी अनुभव की मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि इसमें निरंतरता होती है। इसमें वृद्धि की प्रक्रिया होती है और जिसका परिणाम है चिंतक, अभ्यासक या साधक द्वारा ईश्वर–साक्षात्कार या ईश्वरानुभूति। उल्लेखनीय है कि रानाडे इस ईश्वरानुभूति को ईश्वर को ठीक वैसा ही जानना नहीं मानते बल्कि वह इसे 'लगभग ईश्वर जैसी अनुभूति' मानते हैं जिसे वह सन्निकटन (AsymptoticApproximation) कहते हैं।[19] इस अर्थ में यह एक प्रकार का ईश्वर से मिलन है, इसी मिलन के अर्थ में जानना है, न कि एकाकार होकर जानना है। यहाँ रानाडे की दृष्टि रामानुज की विशिष्टाद्वैती दृष्टि के कहीं अधिक समीप जाती दिखती है, शंकर की अद्वैती दृष्टि की तुलना में।

कांट की भाषिक पदावली का उपयोग कर रानाडे रहस्यवादी अनुभव को समझाते हैं। उनके अनुसार, किसी अनुभव को वैध होने के लिए उसे वास्तविक होना चाहिये और सार्वभौमिक व अनिवार्य होना चाहिये। ऐसा सार्वभौमिक व अनिवार्य अनुभव वस्तुनिष्ठ रूप से वैध होता है। रानाडे के अनुसार, रहस्यवादी अनुभव में यह सभी लक्षण होते हैं। विलियम जेम्स की भाँति वह भी मानते हैं कि धर्म का आधार अनुभव है एवं सभी

रहस्यवादियों में इस अनुभव को लेकर सहमति है। रानाडे रहस्यानुभूति के मापदण्ड के रूप में तीन ज्ञानंमीमांसीय दृष्टिकोणों पर विचार करते हैं। विज्ञानवादी (Idealist), वस्तुवादी (Realist) और अर्थक्रियावादी या परिणामवादी (Pragmatist)। इन तीनों में रानाडे परिणामवादी दृष्टिकोण को मापदण्ड के रूप में अधिक महत्त्व देते हैं। जहाँ विज्ञानवाद सुसंगतता (Coherence) पर, वस्तुवाद सुसंवादिता (Correspondence) पर बल देता है, वहीं परिणामवाद संतुष्टि (Satisfaction) पर बल देता है। रानाडे के मत में संतुष्टि की अनुभूति ही महत्त्वपूर्ण है। किंतु इसे दो ढंग से लिया जा सकता है। सुखवादियों (Hedonist) के सुख (Pleasure) के रूप में तथा अध्यात्मवादियों (रहस्यवादियों) के आनन्द के रूप में। रानाडे इसी संतुष्टि को आनन्द या Beatification कहते हैं। विलियम्स जेम्स के अनुसार, रहस्यात्मक अनुभव विश्रृंखल बुद्धि (discursive intellect) द्वारा न खोजे गये सत्यों की गूढ़ता में अन्तःप्रज्ञा की स्थिति है। यह प्रकटन या उद्घाटन है जो अर्थपूर्ण व महत्त्वपूर्ण दोनों है और एक नियम (मानदण्ड) के तौर पर उनमें एक प्रकार की प्रमाणिकता या आप्तता होती है।[20] जेम्स की भाँति रानाडे के मत में भी यही परम आनन्द/संतुष्टि ही विश्व के सभी रहस्यवादियों का लक्ष्य रहा है। जेम्स के अनुसार, स्वतः प्रामाण्यपरकता के कारण ही रहस्यवादी सत् या यथार्थ के स्वरूप के विषय में कथन करता है। जेम्स की भाँति रानाडे रहस्यानुभूति को व्यापक ज्ञान की श्रेणी में रखते हैं; जो एक जटिल अनुभव है जिसमें सभी इंद्रियाँ एकजुट होकर एक परा–इन्द्रिय अनुभव उत्पन्न करती हैं जिसका स्वरूप आनन्दात्मक है। सभी रहस्यवादियों ने इसे अलग–अलग ढंग से अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों, कवियों, संतों को यही लक्ष्य अभीष्ट है। यही वह सामान्य सूत्र है जो सभी को एक साथ लाता है, एक सूत्र में बाँधता है।[21] रानाडे स्पष्ट करते हैं कि वर्णनों, अभिव्यक्तियों में भिन्नता के कारण पंथों, सम्प्रदायों में भेद हो सकता है। जैसे – कन्नड़ सन्तों को शैवों व वैष्णवों में बाँटा जा सकता है किन्तु एक सच्चा सन्त या रहस्यविद् वही है जो न शैव है, न ही वैष्णव।[22] स्पष्ट है कि रानाडे का जोर महाराष्ट्रीय, कन्नड़ व उत्तर भारतीय संतों के कथनों में व्यक्त ऊपरी सैद्धान्तिक भिन्नताओं पर न होकर उनके आध्यात्मिक अनुभवों की समानता पर ही है। एक अर्थ में रानाडे जे. कृष्णमूर्ति के समान ही विचार रख रहे हैं जो मानते हैं कि हिन्दू, ईसाई, बौद्ध,

जैन इत्यादि संस्कार हैं किंतु आत्म तत्त्व या स्वत्व इनसे परे है। रानाडे भी स्वीकार करेंगे कि धर्म का वास्तविक तात्पर्य इसके संस्कारबद्ध रूप (पंथ) से नहीं है बल्कि उससे है जो इसके मूल में है। सच्चा रहस्यवादी (या धार्मिक व्यक्ति) संस्कारबद्ध धर्म तक सीमित नहीं रहता बल्कि इससे पार जाकर परम यथार्थ या परम सत् का बोध ग्रहण करता है। उसके लिए ये भेद, भिन्नताएँ महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती क्योंकि वह सबमें एक का दर्शन करता है। इसी के प्रति प्रयासरत रहना सच्ची धार्मिकता है।

रानाडे व कृष्णमूर्ति में अन्तर यह है कि जहाँ रानाडे रहस्यानुभूति को सभी धर्मों का मूल मानकर सर्वधर्म सम्भाव का संदेश देते हैं वहीं दूसरी ओर कृष्णमूर्ति ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं करते। बल्कि वह धार्मिकता को मानव मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अंतिम परिणाम मानते हैं। जहाँ सभी संस्कार नष्ट हो जाते हैं। वह धार्मिक मन को उनसे मुक्त करने की वकालत करते हैं। वहीं, रानाडे धर्म के संस्कारबद्ध स्वरूप को समस्यात्मक नहीं मानते बल्कि आध्यात्मिक विकास के सोपान क्रम में इसे आवश्यक मानते हैं। इसके (साधना पद्धतियों के) उपयोग से, ईश्वर प्राप्ति/रहस्यानुभूति का मार्ग प्रशस्त होता है। महत्त्वपूर्ण है कि कृष्णमूर्ति धर्म के संस्कारित स्वरूप की आलोचना करते हैं, धर्म के सार रूप धार्मिक अनुभूति या धार्मिकता की नहीं। यद्यपि वे इस सार, जो सभी धर्मों में सामान्य हो, को स्वीकार नहीं करते। केवल मानव मन के धार्मिक स्वरूप की ही बात करते हैं। जबकि रानाडे धर्म के सार या धार्मिकता के मूल के रूप में रहस्यानुभूति/आनन्द की अनुभूति को पुनर्स्थापित करते हैं। रानाडे धर्म के संस्कारित रूप को समस्यात्मक न मानते हुये उन्हें ईश्वरप्राप्ति के विभिन्न मार्गों के रूप में स्वीकार करते हैं। रानाडे के लिये इन मार्गों की अपनी अर्थवत्ता व उपयोगिता है। विवेकानंद की भाँति रानाडे की भी धर्म संकल्पना एक सार्वभौमिक धर्म की संकल्पना का मार्ग खोलती है, जिसे रहस्यवादी धर्म कह सकते हैं क्योंकि इसके मूल में रहस्यानुभूति ही होगी।

विशेष बात यह है कि विवेकानन्द की भाँति रानाडे भी सार्वभौमिक धर्म की सम्भाव्यता का स्रोत वेदांत में पायेंगे। किंतु जहाँ विवेकानन्द शंकर के अद्वैत ब्रह्मवाद में वहीं रानाडे उपनिषद् के ब्रह्मवाद में इसे पायेंगे। इसे उपनिषदीय रूप प्रदान करते हुये रानाडे कहते हैं कि ऋषिगण उसको 'ज्ञान के प्रकाश' के रूप में देखते हैं। वह परम सत् अपने को आनन्द–रूप में

अभिव्यक्त करता है।[23] वे अपने ग्रंथ 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' में संत ज्ञानेश्वर को उधृतकर कहते हैं कि आत्म–दर्शन में ही सच्चा आनन्द या सुख है। इसी अनुभव की सौंदर्यशास्त्रीय विवेचना करने हेतु वह उपनिषद् का कथन 'रसौ वै सः' का उल्लेख करते हैं और मानते हैं कि यह कथन रहस्यवाद को ही स्थापित करता है। उनकी धर्म की उपयोगितावादी व परिणामवादी संकल्पना के अनुसार, सच्चा धर्म वही है जो आनन्द प्राप्ति में सहायक हो। यहाँ हम देखते हैं कि रानाडे उपनिषदीय दर्शन को भी सुखवादी आयाम से जोड़ देते हैं। उपनिषदीय दार्शनिक ऋषि सनत्कुमार को उधृत करते हुये वे कहते हैं कि सुख सभी कृत्यों का स्रोत है। कृत्य निष्ठा का कारण है। जब एक व्यक्ति श्रद्धा करता है तो वह मनन् (चिंतन) करता है, जब वह मनन् करता है तो वह (वि) ज्ञान प्राप्त करता है, और जब वह ज्ञान प्राप्त करता है तो वह सत्य तक पहुँच जाता है।[24] इस ऋषि–दृष्टि में सुख, कर्म (क्रियाशीलता), श्रद्धा, विश्वास, विचार, ज्ञान एवं सत्य एक होकर आत्मज्ञान के नैतिक सोपानमार्ग का निर्माण करते हैं। उल्लेखनीय है कि जैन व बौद्ध नीतिशास्त्र में भी ज्ञान, श्रद्धा,विश्वास, कर्म, आचार आदि की परस्पर संयुक्तता को अनिवार्य माना गया है। रानाडे सनत्कुमार द्वारा वर्णित 'भूमा' सिद्धांत का उल्लेख करते हैं जो अनंत सुख को ही सूचित करता है और जो जगत् में दिव्यता के दर्शन के परिणामस्वरुप उत्पन्न होता है। इस प्रकार, रानाडे जेम्स, पर्स, ड्यूवी आदि जैसे आधुनिक परिणामवादी या अर्थक्रियावादी दार्शनिकों की भाँति मानते हैं कि क्रियाशीलता ही मौलिक अवयव है धर्म का। धार्मिकता, बुद्धि, विवेक, ज्ञान–विज्ञान आदि, यहाँ तक कि श्रद्धा भी इसी क्रियाशीलता से निगमित होते हैं। अतः रानाडे के अनुसार क्रिया का स्रोत सुख (आनन्द) ही है। सुख के बिना कर्म संभव नहीं। इस प्रकार, आनन्द या सुखवाद कर्मवाद से सम्बद्ध है। रानाडे के लिये यह आनन्द सामान्य अनुभूति मात्र नहीं है बल्कि यह संज्ञानात्मक अनुभूति है जिसमें सत् के वास्तविक स्वरूप का बोध/ग्रहण होता है। इसे निर्विकल्पक ज्ञान कहा जा सकता है। यही अपरोक्षानुभूति है। किंतु यह शंकर के अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान जैसी स्थिति नहीं है जैसा कि पहले कहा गया है। इसलिये रानाडे को अद्वैती कहना उचित न होगा। उन्हें उपनिषदीय रहस्यवादी कहना अधिक उचित होगा। जिस तरह विवेकानन्द के 'सार्वभौमिक धर्म' की जड़ें वेदान्त में निहित हैं, उसी तरह रानाडे के रहस्यवाद/आनन्दवाद के बीज उपनिषदों में निहित हैं। यद्यपि दोनों दार्शनिक किसी न किसी रूप में

परिणामवाद या उपयोगितावाद को धर्म की पुर्नव्याख्या हेतु स्वीकार करते हैं।

रानाडे के मत में उपनिषदों और वेदान्त की चिंतन पद्धतियों में मौलिक भेद है। जहाँ उपनिषद् की पद्धति अन्तरानुभव/अंतःप्रज्ञा की पद्धति है वहीं वेदांत की पद्धति शुद्ध तार्किक है और बुद्धि–आधारित है। ऐसा होते हुये भी अंतःप्रज्ञा व बौद्धिक–तार्किक ज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। रानाडे का हेतु अंतःप्रज्ञा की तुलना में ज्ञान के अन्य साधनों को निकृष्ट बताना नहीं है। बल्कि यह उद्‌घाटित करना है कि अंतःप्रज्ञा या प्रातिभज्ञान की पद्धति कोई उप–सम्बन्धात्मक (Sub-relatinal) पद्धति नहीं है अपितु अति–सम्बन्धात्मक (Super-relational) पद्धति है।[25] इसमें तार्किकता या बौद्धिकता का लोप नहीं होता। उनके मत में प्रातिभज्ञान या अन्तःप्रज्ञा बुद्धि, प्रत्ययों, भावना या इच्छा का मूल है, न कि विरोधी। इस अर्थ में प्रातिभज्ञान में इन सबका अर्न्तभाव हो जाता है। सभी विषयों व ज्ञानों का अन्तर्भाव आनन्द की अनुभूति में हो जाता है। यही रानाडे का आनन्दवादी दर्शन है। रानाडे के मत में उपनिषदीय आनन्दवाद या रहस्यवाद को बुद्धि, तर्क तथा अनुभव की कोटियों द्वारा व्याख्यायित/स्पष्ट किया जा सकता है। यही उन्होंने अपने ग्रंथ 'कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी' में करने का प्रयास किया है। यही उनकी धर्म संकल्पना का सार है। इस प्रकार, रानाडे की विचारणा से यह निगमित होता है कि उनके लिये धर्म एक ओर गूढ़ व रहस्यमय है वहीं दूसरी ओर, उसका संस्कारबद्ध रुप (पंथ) इसी रहस्यानुभूति के वास्तविकीकरण का मार्ग है। इसी अर्थ में सभी धर्म (पंथ) मार्ग हैं और उनकी सार्थकता मार्ग पर चलने में ही है। परिणामस्वरुप लक्ष्यप्राप्ति अर्थात् रहस्यानुभूति होती है। यही रानाडे की 'धर्म की परिणामवादी संकल्पना' है। ध्यान देने योग्य बात है कि रानाडे की 'धर्म–संकल्पना' में परिणामवादी आयाम अवश्य अंतर्भूत है किंतु यह सटीक पाश्चात्य परिणामवाद या उपयोगितावाद भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंततः यह उपनिषदीय आत्मवाद या ब्रह्मवाद ही है। रानाडे उपनिषदीय आत्मवाद या ब्रह्मवाद के अनुभवात्मक पक्ष को उभारते हुये इसे इतनी सार्वभौमिकता व सामान्यता प्रदान कर देते हैं कि वे इसे ही मध्ययुगीन भारतीय संतों की वाणी में भी अभिव्यक्त मान लेते हैं। उनके अनुसार, अधिकांश भारतीय (कुछ पाश्चात्य भी) संतों ने भी उसी रहस्यवादी ज्ञान को

सामान्य–जन की भाषा में वर्णित कर उसे लौकिक, व्यावहारिक व लोकतांत्रिक रुप प्रदान कर दिया। उनके अनुसार, यह परम आनुभविक सत्य इतना व्यापक है कि यह सभी संतों, पंथों, उनके प्रवर्तकों के कथनों में अभिव्यक्त होता है। यही सभी धर्मों का गूढ़ सत्य है।

इस प्रकार, विवेकानंद की भाँति रानाडे के धर्म–चिंतन से भी एक वैश्विक धर्म की संभावना खुलती है जिसका मूलाधार रहस्यानुभव है। ऐसा धर्म पंथों की पारम्परिक सीमाओं को लांघते हुये एक ऐसे वैश्विक समाज की निर्मिति का मार्ग प्रशस्त करता है जहाँ धार्मिकता की कसौटी रहस्यानुभव पर आधारित धार्मिक चिंतन व जीवन है। रानाडे एक ऐसे ही दिव्य समाज की कल्पना करते हैं। किंतु ध्यान देने वाली बात यह है कि रानाडे इस रहस्यानुभव को उपनिषदीय दर्शन में वर्णित परम सत्य (ब्रह्म) के अनुभव से तादात्म्यीकृत करते हैं। ऐसा रहस्यानुभव उनके मत में दर्शन ही नहीं वरन् विज्ञान से भी सुसंगत इसी कारण है कि यह उपनिषदीय दर्शन पर आधारित है। रानाडे आश्वस्त हैं कि उपनिषदीय दर्शन पर आधारित रहस्यवादी दर्शन व धर्म परम सत् का ऐसा स्वरुप प्रस्तुत करता है जो आधुनिक विज्ञान का विरोधी तो नहीं ही है, उलट विज्ञान की प्रगति के फलस्वरुप यह और भी पुष्ट हो सकता है। कारण कि यह परम सत् का ज्ञान साक्षात् (रहस्यवादी) अनुभव पर आधारित है और यह प्रकृति के विकासवादी क्रम में संज्ञानात्मक प्रक्रिया के अंतिम चरण का अनुभव है। हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि इसकी वैज्ञानिक व्याख्या क्या होगी, क्योंकि ऐसा अनुभव तो नितांत आत्मनिष्ठ है और विज्ञान का लक्ष्य वस्तुनिष्ठता है। रानाडे इसे भविष्य की वैज्ञानिक प्रगति पर छोड़ देते हैं। वे इतना ही कहते हैं कि ऐसी संकल्पना 'मनुष्य की दार्शनिक, बौद्धिक, धार्मिक प्रत्याकांक्षाओं के साथ–साथ उसकी वैज्ञानिक प्रत्याकांक्षा को भी संतुष्ट करती है।'[26] रानाडे के रहस्यवादी दर्शन से निगमित धर्म की अवधारणा एक बौद्धिक अवधारणा है जिसका प्रमाणीकरण अनुभव में निहित है। वे ऋग्वैदिक उद्घोषणा 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' को साकार करते हुये धर्म की समन्वयात्मक संकल्पना प्रतिपादित करते हैं, जिसमें पूर्वी व पश्चिमी, दार्शनिक व आध्यात्मिक, दोनों दृष्टिकोणों का समावेश है। यहाँ हम पाते हैं कि हमने जहाँ से प्रारंभ किया था वहीं पहुंच जाते हैं। हमने ऋत्–स्वरुप धर्म की संकल्पना से प्रारंभ किया था और हम

रानाडे की उपनिषदीय ब्रह्मवाद–स्वरुप धर्म की वैश्विक संकल्पना पर पहुँच जाते हैं। दोनों में साम्य है। पहली तत्त्वमीमांसीय है जबकि दूसरी ज्ञानमीमांसीय अर्थात् अनुभववादी व परिणामवादी। भेद इतना ही है कि रानाडे अपने विचार को कोई नाम न देते हुये केवल उसे रहस्यवादी गूढ़ अनुभव के रुप में उल्लिखित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे, धर्म के सारतत्त्व का ज्ञानमीमांसीय प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं किंतु कुछ विशिष्ट तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं के साथ। रानाडे के लिये यह तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता निराधार नहीं बल्कि एक गहन दार्शनिक चिंतन का परिणाम है और उनकी दृष्टि में यही यथोचित विकल्प एवं मार्ग है। यद्यपि रानाडे के चिंतन से रहस्यानुभूति आधारित एक व्यापक, वैश्विक व बहुविध दृष्टि समावेशी धर्म का कोई विस्तृत स्पष्टीकरण नहीं मिलता और इस कारण समग्र दर्शनशास्त्रीय विवेचना की आवश्यकता बनी रहती है; तथापि यह निश्चित है कि उनके लिये ऐसे धर्म की आधारशिला उपनिषदीय तत्त्वमीमांसा ही होगी।

**तत्त्वज्ञान विभाग,**
**सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय**
**पुणे (महाराष्ट्र) 411007**

**संदर्भ एवं पाद टिप्पणी**

1. *आप्टे, वी एस– संस्कृत हिंदी कोष, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ–489*
2. *महाभारत –कर्ण पर्व (अध्याय 69–ष्लोक 59)*
3. *घोष, श्री अरविंद – एस्सेज, आयडियल एण्ड प्रोग्रेस, आर्य पब्लिशिंग हाऊस, शिमला, पृ.93*
4. *रानाडे, रा.द. – पाथवे टु गॉड इन कन्नड लिटरेचर, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानाडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल, (2003) अध्याय 1, पृ. 1*
5. *पाण्डेय, संगमलाल – (संपा.) रानाडे का दर्शन, दर्शन परिषद, इलाहाबाद, 1958 पुर्नमुद्रण 2019 पृ. 144*
6. *वही, पृ. 145*
7. *वही, पृ. 145*
8. *वही, पृ. 147*

*9. रानाडे, रा. द.–फिलॉसॉफिकल एण्ड अदर एस्सेज, ऐकेडिमी ऑफ कम्परेटिव फिलॉसफी एण्ड रिलीजन, बेलगाम, रिप्रिंट, 2013 पृ. 176–77*

*10. रानाडे, रा. द. –ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, भारतीय विद्याभवन, श्री गुरूदेव रानडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल, (1926, 2003), पृ. 65*

*11. वही – अध्याय 1 पृ. 1–2*

*12. वही – पृ. 2*

*13. रानाडे, रा.द. – पाथवे टु गॉड इन हिंदी लिटरेचर, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानाडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल पृ.6–8*

*14. रानाडे, रा.द. –इंडियन मिस्टीसिज्मःमिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र, हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, अंक 7, भूमिका, आर्यभूषण प्रेस, शनिवार पेठ, पूना, 1933, पृ. 26–27,*

*15. वही – पृ. 28*

*16. शर्मा, रामनाथ – रानाडे का धर्मदर्शन, रानाडे का दर्शन (संपा.) संगमलाल पाण्डेय, दर्शन परिषद, इलाहाबाद, 1958, पुर्नमुद्रण 2019, पृ.249*

*17. रानाडे, रा.द. – ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानाडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल, (1926, 2003) पृ. 2,पृ. 14–15*

*18. रानाडे, रा.द.–द भगवद्गीता, एज ए फिलॉसफी ऑफ गॉड–रियलायजेशन, पृ. 279–280*

*19. रानाडे, रा.द. – पाथवे टु गॉड इन कन्नड लिटरेचर, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानडे सामाधि ट्रस्ट, निम्बल, (2003) अध्याय 1, पृ. 4*

*20. जेम्स, विलयम– वैरायटीज ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियंसेज, लॉग मैन्स, ग्रीन, एण्ड कंपनी, लंदन, बॉम्बे (1902) पृ. 422–23*

*21. रानाडे, रा.द. – पाथवे टु गॉड इन कन्नड लिटरेचर, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानाडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल, (2003) अध्याय 1, पृ. 6*

*22. वही, पृ. 6*

*23. रानाडे, रा.द.– ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, एवं श्री गुरूदेव रानाडे समाधि ट्रस्ट, निम्बल, (1926, 2003) पृ. 2, पृ. 296*

*24. वही, पृ. 52–53*

*25. वही, पृ. 5–6*

*26. वही, अध्याय 1 पृ. 1–2*

# धर्म सापेक्षता और समाज

श्रीप्रकाश सिंह

मानव जीवन और प्रकृति की विकास यात्रा में 'धर्म' का विशेष स्थान रहा है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'धर्म' सुनीति, कर्त्तव्य, परंपरा, संस्कृति, सभ्यता, मानवता, सद्‌गुण तथा समाज के प्रवाह का प्रतीक है; केवल पूजापद्धति नहीं है। यह अलग प्रश्न है कि समग्र सभ्यता विमर्श का आधार वर्तमान में पूजा–पद्धति के इर्दगिर्द ही विवेचित है। इसलिए इसका व्यापक अध्ययन–चिन्तन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसकी व्यापकता और इसके प्रति भारतीय समाज और चिन्तन में व्याख्यायित दर्शन से इसका अलग स्वरूप ही उद्‌घाटित होता है। भारतीय दर्शन और वाङ्मय में धर्म की व्याख्या इस पूजा–पद्धति की संकीर्णता से बहुत अलग और ऊपर है। इसके केंद्र में मानव एवं चराचर की कल्याणकारी भावना है।

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भागभवेत्।।**

''उदार चरितानाम तु वसुधैव कुटुम्बकम्'' का बोध और आग्रह सामजिक, राष्ट्रीय,राजकीय और व्यक्तिगत धर्म ही है। इसीलिए भारत की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि भारत का सामाजिक एवं राष्ट्रीय चरित्र धर्मसापेक्ष है। भारतीय ग्रन्थों में विस्तार से धर्म की संकल्पना को समाज और प्रकृति के कण–कण के साथ जोड़ा गया है। मानवीय,मानवेतर और पारिवारिक संबंधों का ताना–बाना भी धर्म की संकल्पना के आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। सहस्राब्दियों से इसे भारतीय समाज ने, भारत ने स्वीकारा है और इसके अनुरूप व्यवहार भी किया है। उदाहरण के लिए भगवान् राम (रमण्ते योगिनो यस्मिन्न) पूज्य हैं, मंदिरों में उनकी पूजा–अर्चना का विधान है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता, न्याय, सुचिता, मर्यादा की पराकाष्ठा के रूप में भगवान् राम का उल्लेख किया जाता है और समाज में सदियों से इसका व्यवहार और अनेकानेक वरण भी


ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

हुआ है और होता रहेगा; लेकिन जब भी रामराज्य का उल्लेख होता है उसमें पूजा–पद्धति नहीं अपितु सत्य, सुनीति, न्याय, सदाचार मर्यादा को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है और पूजा–अर्चना का व्यवहार गौण हो जाता है। महाभारत के युद्ध क्षेत्र में भगवान् योगेश्वर कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञानोपदेश उल्लेखनीय है :

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।**

अध्याय 4 श्लोक 7 एवं 8

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब–जब इस पृथ्वी पर धर्म की हानि होती है, विनाश का कार्य होता है, कल्याण का मार्ग अवरुद्ध होता है तब–तब मैं 'धर्म' की स्थापना के लिए, मानवता के लिए इस पृथ्वी पर युग–युग जन्म लेता हूँ, अवतरित होता हूँ। यहाँ युद्ध क्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पूजा–पद्धति का ज्ञान नहीं देते हैं अपितु वे यहाँ तात्कालिक समाज में व्याप्त अधर्म, अनीति, लालच, क्रोध, दुराचार, व्याभिचार, दुराग्रह, प्रकृति विरुद्ध आचरण एवं अनैतिकता युक्त कार्यों की तरफ और मुक्ति की तरफ इंगित कर रहे हैं। उनका यह उपदेश आज भी प्रासंगिक है।

धर्म की यह संकल्पना भारत का जीवन–दर्शन है। यह सनातन है और सदियों से है। जनसामान्य की मान्यता है कि इसका काल अनन्त है, यह अन्तः करण से प्रेरित कर्त्तव्य का पुंज है, यह समाप्त प्रायः नहीं है और नही संभव है। भारत पर अनेकानेक आक्रमण सदियों से होते रहे। आक्रान्ता आते रहे, लूटते रहे, हमारी संस्कृति और सभ्यता पर आघात करते रहे लेकिन समाज में व्याप्त 'धर्म' तत्त्व की व्यापकता ने हमें बचाये रखा और जिसके परिणामस्वरूप आज हम वैश्विक नेतृत्व प्रदान कर रहे हैं। उक्त प्रणयन का उदेश्य यह भी है कि हम 'धर्म' और 'पंथ' के अंतर को पहचाने, पूजा–पद्धति की संकीर्णता के विपरीत 'धर्म' की व्यापकता को जाने, जिसका लाभ हमारे समाज को, मानवता को युगों–युगों तक प्राप्त हुआ, उसका लाभ सम्पूर्ण विश्व और मानवता प्राप्त करे सके। इसलिए यह वैदिक ध्येय वाक्य स्मरणीय है :

**अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।**
**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।**
**अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम।**
**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।**[1]

वास्तव में यह धर्म की संकल्पना और हिन्दू जीवन–पद्धति का विचार है। इसकी स्थापना से ही मानवता का कल्याण होगा। हिंसा का प्रतिकार होगा, सौमनस्य बढेगा, और सभ्यताओं के युद्ध तथा विनाश के विचार से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। इसलिए 'धर्म' की सापेक्षता का अध्ययन मनन करने की महती आवश्यकता है। धर्म का लोकपक्षीय रूप सदा से ही आचार और व्यवहार का संबल लेकर चलता रहा है, किन्तु यह आचार व्यवहार कभी–कभी व्यापक चिन्तन के आभाव में संकीर्णता के कारण रूढ़ि और अन्धविश्वास का भी रूप ग्रहण कर लेता है और 'धर्म' को आचार–विचार से निकालकर विचारधारा का रूप दे दिया जाता है। इससे धर्म एक भौतिक विचार की भाँति सत्ता का मापदंड बन जाता है। परिणामस्वरूप धर्म कभी अफीम तो कभी एक अन्धविश्वास जैसी पदावली में परिभाषित होने लगता है। ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार की परिभाषा पश्चिमी सिद्धांतों के आधार पर हमारे प्राचीन राष्ट्र भारत में भी गढ़ी जाती रही है। इसके विपरीत यह प्रयास 'धर्म' के विभिन्न परिदृश्य और प्रचलित साधनाओं, आध्यात्मिकता के स्तर पर अंतर्निहित अभिन्न एकता को प्रदर्शित करने वाले कारक के रूप में विश्लेषित किया गया है।

प्रस्तुत लेख चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में धर्म क्या है? के प्रश्न को दार्शनिक और सैद्धांतिक आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास किया जायेगा। दूसरे भाग में 'धर्म' और 'रिलीजन' में किस प्रकार का अंतर है ? इसका विश्लेषण किया जायेगा, तीसरे भाग में, धर्म और राजनीति के संबंधों के प्रचलित विचारों को प्रचलित राजनीतिक व्यवहार में किस प्रकार लागू किया जाये, इसका विश्लेषण किया जायेगा।

**धर्म की परिभाषा :**

मानव जीवन की सामाजिकता एवं वैयक्तिकता के जुड़ाव के कई रूप हैं। इन रूपों में, कला, विज्ञान, भाषा, तर्क, बुद्धि, भावना के साथ–साथ धर्म का एक महत्त्वपूर्ण जुड़ाव है। धर्म मानव जीवन की सार्वभौमिकता एवं

उपादेयता से जुडा हुआ है, जो ऋग्वेद के अनुसार धर्म वह है जिसे धारण किया जाता है।[2] वहीं महाभारत में, धारणात् धर्म मित्याहु धर्मोंधार्यते प्रजा[3] के द्वारा और भगवद्गीता में धृत्यायता धारयते[4] के द्वारा धर्म को धारण के रूप में ही परिभाषित किया गया है। ऋग्वेद में 'अतो धर्माणि धरायम्' के माध्यम से ईश्वर द्वारा धर्मों के धारण की स्वीकारोक्ति की है। इसके अलावा ऋग्वेद में ही धृवतो[5] अर्थात् सत्य का व्रत धारण, धर्मणामिरज्यासि[6] अर्थात् धर्म के प्रसाद से एश्वर्य आदि को धारण करने का निर्देश प्राप्त होता है ।

इसके अलावा अथर्ववेद में सत्य, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ आदि को धर्मतत्त्व मानते हुए "सत्य वृहदतमुंग दीक्षा तपो ब्रहम यज्ञः पृथ्वी धारयतिः"[7] पृथ्वी (चर–अचर–उभयचा) को धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। उपरोक्त सन्दर्भ में वर्णित तत्त्व सनातन है, पूजा–पद्धति से अतिरिक्त है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने और न मानने वाले दोनों पर समान रूप से लागू होता है। निर्गुण, निराकार, नास्तिक आदि धर्म की धारणा करने की सर्वमान्य सत्ता से बाहर नहीं हैं, लेकिन यही बात रिलीजन के सन्दर्भ में नहीं कही जा सकती है।

मैक्सम्युलर का भी मानना है कि धर्म और रिलीजन दो पृथक् भाषाओं के शब्द हैं। धर्म को ग्रीक या लैटिन में अनुवादित नहीं किया जा सकता है और न ही लैटिन के रिलिजन में ही धर्म का संपूर्ण अर्थ सन्निहित है।[8] धर्म में आचार–विचार के दृष्टिकोण से सामाजिकता के प्राण वायु प्रत्येक तत्त्वों को प्रेरित और प्रबोधित किया जाता है, जबकि रिलिजन का दायरा अत्यन्त संकुचित है ।धर्म की व्यापकता में विधि–विधान, नैतिकता, सिद्धांत प्रियता, रीति–रिवाजों, ईश्वर, अनीश्वर, श्रेय, निःश्रेय, शास्त्र, आज्ञा, आचरण, व्यवहार, सद्गुण, न्याय, कर्तव्यपालन आदि अनेक तत्त्व शामिल हैं। यदि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन को ध्यानस्थ करें तो स्वधर्म, समाज धर्म, मानव धर्म, पुत्रधर्म, पितुधर्म, मातृधर्म, भार्याधर्म, राष्ट्रधर्म, धर्मराज, मित्रधर्म, आपद्धर्म, आपातकाल में धर्म, अंहिसा, सत्य, परोपकार, जनकल्याण, सैन्य धर्म, प्रजाधर्म, धर्ममूर्ति, आदि ।

मनुस्मृति में उल्लेखित धर्म की व्याख्या के दस लक्षणों का वर्णन इस विषय की स्पष्टता को और भी बढ़ा देता है। धर्म, रिलिजन से किस प्रकार अलग है, इसकी भी स्थापना करता है। यह है – धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धी, विधा, सत्य और आक्रोध।

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
**धीविद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।**[9]

संत शिरोमणि तुलसीदास ने लिखा है कि 'परहित सरिस धर्म न हि भाई, पर पीड़ा सम न हि, अघनाई' यानी परोपकार से बड़ा कोई धर्म नहीं है। उक्त व्याख्या धर्म के स्वरूप को अत्यंत व्यापक बनती है और मानव के मानवत्व को पोषित करती है। महाभारत में पितामह भीष्म भगवान् श्रीकृष्ण के धर्म आचरण को चक्रवर्ती बताते हैं लेकिन आपात स्थिति में भीष्म निर्देशात्मक विधानों का ही पालन करते हैं। दूसरी तरफ कृष्ण अपने उपदेशों के माध्यम से मानवता के कल्याण को धर्म एवं कर्त्तव्य से जोड़ते हैं। द्रष्टव्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने सामान्य परिस्थिति में अपराध माने जाने वाली धारणा के विपरीत द्रोण, कर्ण, दुर्योधन तथा भीष्म के वध को धर्म–कर्म से जोड़कर मानवता के हित में कौरवों को हराना आवश्यक बताया है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि धर्म कर्तव्य से जुड़कर मानवता को सुरक्षित करने के एक यंत्र के रूप में स्थापित होता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि इस तरह का आपात एवं असाधारण मार्ग तभी अपनाया जा सकता है जब कर्ता अहंकार मुक्त निःस्वार्थ, सात्विक हो और उसका कार्य मानवता के व्यापक कल्याण के लिए हो।[10]

महाभारत में श्री कृष्ण का उपदेश है कि सत्य के लिए सत्य बड़ा नहीं होता और मिथ्या के लिए मिथ्या बड़ी नहीं होती। उसका विचार धर्म से ही होता है। धर्म ही सत्य का मानदंड है– यतो धर्मस्ततः सत्यम।[11] इसी क्रम में महाभारत के वनपर्व में धर्म के पाँच प्रणों की व्याख्या की गयी है – शांति, समता, दया, अंहिसा और अमात्सर्य।[12] यहाँ धर्म छः पैरो पर खड़ा है– जन्म से ही क्षुधा और तृष्णा, यौवन से शोक और मोह और वार्द्धक्य में जरा और मृत्यु।[13] धर्म के प्राण – स्वरूप का बहुत ही सुंदर वर्णन हमें यहाँ प्राप्त होता है। धर्म की चार मुर्तियाँ हैं, उसकी पहली मूर्ति भूतल में तपस्या में लीन है। दूसरी मूर्ति लोकसाक्षी रूप में विद्यमान है, तीसरी मूर्ति मनुष्य के कर्मों की साधिका है, चौथी मूर्ति में, वह अनंत में सोया हुआ है।[14] ये चारों कृष्ण के चार व्यूह हैं जिसे धर्म की चार मूर्तियाँ कहा जाता है। मूर्तियों का उल्लेख समाज में हो रहे क्षरण की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। यह हमें इस बात के लिए आगाह करता है कि हम जिस प्रकार से मूर्ति को धर्म का प्रतीक मान रहे हैं, वह एक भ्रम मात्र है। यह भ्रम महाभारत में भी विद्यमान रहा है।

महाभारत के बहुत से पात्र धर्म के इन गुणों एवं लक्षणों से भूषित होकर भी क्या अपने अपने जीवन में धर्म को प्राप्त कर सके ? यदि हम यहाँ महाभारत में धर्म की परिभाषा का निष्कर्ष निकालें तो वास्तव में धर्म एक ऐसी शक्ति है जो जीवन की सभी वस्तुओं से ऊपर है और सभी वस्तुओं में व्याप्त है। मानो वह एक चित्त शक्ति जो जीवन को ऊर्जा देती है। लेकिन लोकस्मृतियों में धर्म एक अध्यात्म का विषय भी है। इसलिए यह मेरा धर्म है, यह उसका कर्म है जैसे उद्बोधन प्रायः सुनाई देते हैं।

धर्म में आध्यात्मिक तत्त्व दो रूपों में दिखाई पड़ता है। एक आंतरिक दूसरा बाह्य। धार्मिक मार्ग में विस्तार और गहनता दोनों देखी जा सकती है। इस प्रक्रिया में भौतिक तत्त्व मिश्रित हो जाते हैं, जिससे सत्य की बहुत हानि होती है और धार्मिक शक्तियों का बहुत दुरुपयोग होता है। बौद्धिक रचनाएँ मत, सम्प्रदाय, रीति – रिवाज, कर्मकांड की ओर ले जाती है। श्रीअरविंद ने लिखा है कि आध्यात्मिक प्राणी के विकास को ध्यान में रखते हुए दो तरह से विचार करना होगा। साधन का विचार, प्रकृति के द्वारा प्रयोग की गयी विकास की रेखाओं के आलोक में और दूसरा मानव व्यक्तित्व में उसके द्वारा प्राप्त जीवन के वास्तविक परिणामों का दृष्टिकोण। श्रीअरविंद का विकासवादी दर्शन, प्रकृति के विकास से जुड़ा हुआ है। जहाँ हेगेल ने पाश्चात्य दर्शन में प्रकृति की विकासात्मक प्रक्रिया को द्वंद्वात्मक प्रगति माना है वहीं अरविंद ने प्रकृति की विकासवादी प्रक्रिया को योग में आत्मा की वस्तुकारक प्रवृत्ति के रूप में परिभाषित किया है। वास्तव में अरविंद ने बुद्धि और आत्मा में अंतर दिखा कर बुद्धि की सीमाओं को निर्धारित किया है जो पश्चिमी समझ से भारतीय समझ को अलग कर देता है।[15]

**धर्म और रिलीजन में अंतर :**

सामान्यतया धर्म और रिलीजन को समानार्थी माना जाता है और प्रयोग भी किया जाता है। जबकि धर्म शब्द की व्युत्पति और विस्तार रिलीजन शब्द से बिलकुल अलग है। एक की उत्पति संस्कृत भाषा के धृ धातु से प्रेरित है जबकि दुसरे की उत्पति पश्चिम की लैटिन भाषा से प्रेरित है। दोनों के व्यवहार में अंतर है, पृष्ठभूमि में अंतर है; जिसपर गंभीरता से विचार होना चाहिए था, क्योंकि शब्द संरचना भी संस्कृति और सभ्यता की द्योतक होती है। धर्म और रिलीजन में अंतर करने से पूर्व हमें दो बातों

को स्पष्ट कर लेना चाहिए। एक, भारत में धर्म सुनीति, सत्याग्रह, सत्ता, सद्‌भाव और कल्याण से जुडा हुआ है वहीं दूसरी तरफ धर्मनिरपेक्षता जैसे आधुनिक विचार यूरोप की स्मृतियों का ही अनुसरण करते हैं। जो अपने आप में एक विरोधाभासी प्रक्रिया है। इसीलिए भारतीय जनमानस में व्याप्त धर्म की आस्था से अलग नयी व्याख्या स्थापित होती है। यहीं से धर्म और रिलीजन के सन्दर्भ में मतिभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। यह मतिभ्रम आज भी समाज और राजनीति में व्यापता है और सत्ता की राजनीति के कारण उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त है।

रिलिजन का अर्थ था – अपने पूर्वजों की परंपरा का पालन करना। स्वभाविक है कि यह परंपरा पारिवारिक ज्यादा थी। लेकिन तीसरी शताब्दी में रिलिजीयों की परिकल्पना में आमूलचूल परिवर्तन तब आया जब रिलिजीयों की उत्पति रे–लिगारे से गढ़ी जाने लगी, जिसका अर्थ होता है सम्बन्ध स्थापित करना या जोड़ना। यह दो अर्थों से मिलकर बना था। सत्य की पूजा और अन्धविश्वास की पूजा। फिर कालान्तर में रिलीजियस उसे माना जाने लगा जो असली ईश्वर को मनाने वाले हों। इस तरह रिलीजियस की पुरानी बहुलवादी और सहिष्णुता के स्थान पर ईश्वरवादी व्याख्या ज्यादा प्रचलित होने लगी।[16]

भारतीय जीवन दर्शन में धर्म का अभिप्राय एवं व्यवहार रिलीजन के अर्थ एवं व्यवहार से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ धर्म का अर्थ है धारण करने योग्य। अर्थात् किसी भी पदार्थ का प्राकृतिक स्वभाव, उस स्वभाव के अनुरूप किया गया कार्य। उदाहरण के लिए वृक्ष कबहु न फल भखै नदी न साँचै नीर अर्थात् पेड़ का स्वभाव है फल देना, जो उसका धर्म है। राजा का धर्म है लोकहित में शासन करना। दूसरे शब्दों में कहें तो धारण भी अपने आप में कर्त्तव्य से जुड़ा हुआ है। ईश्वरीस्वरूप को लेकर रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद में एक संवाद हुआ था। यह संवाद एक महत्त्वपूर्ण इतिहास काल–कांड को भी अभिव्यक्त करता है। स्वयं विवेकानंद आधुनिक विज्ञान के छात्र थे और उस समय बंगाल में औपनिवेशिक प्रभाव के कारण आधुनिकता और विज्ञान का वर्चस्व था। गुरु रामकृष्ण परमहंस माँ काली के परम भक्त थे और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते थे। लेकिन यहाँ ईश्वर का मतलब यूरोपीय विचार पर आधारित न होकर चेतना के एक ऐसे ऊपरी सोपान पर आधारित था जहाँ प्रकृति के विराट अस्तित्व में मनुष्य का

अस्तित्व लीन हो जाता है। इस संवाद में विवेकानंद का कहना था कि ईश्वर के अस्तित्व को तभी मानेंगे जब उन्हें प्रमाण मिले। रामकृष्ण का मानना था कि ईश्वर का प्रत्यक्ष भौतिकी की प्रयोगशाला में संभव नहीं है। क्योंकि इन दोनों तरह के यथार्थ के स्वरूप में अन्तर है। भौतिकी की प्रयोगशाला में केवल स्थूल यथार्थ का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। सूक्ष्म यथार्थ के प्रत्यक्ष के लिए अलग तरह की प्रयोगशाला होती है। फिर रामकृष्ण ने विवेकानंद को अपने ध्यान की प्रक्रिया में आने का आग्रह किया। उन्हें चेतना के उच्च स्तर की अनुभूति कराया। इस अनुभूति के बाद विवेकानन्द ने ईश्वर के स्वरूप को सहर्ष बगैर तर्क के स्वीकार कर लिया और रामकृष्ण के शिष्य हो गये।[17] इस संवाद को धर्म की परिभाषा में यहाँ शामिल करने का उद्देश्य यह है कि धर्म की परिभाषा में किसी भी प्रकार का कोई स्थापित कारक नहीं है। भारतीय धर्म की संकल्पना किसी एक धर्मिक पुस्तक के अनुसार चलने वाली प्रक्रिया नहीं है। जैसा कि यूरोप में व्याप्त ईसाईयत और अरब पृष्ठभूमि के इस्लाम में एकमेव ग्रन्थ की प्राधान्यता इतनी है कि वहाँ संवाद की स्थिति नहीं है।

अंग्रेजी भाषा में धर्म के लिए रिलीजन शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शब्द की मूल पैदाइश लैटिन शब्द रेलिजियो है। रोमन चिन्तक सिसरो रेलिजियो का प्रयोग रेलेगेरे की तरह करते हैं। जिसका अर्थ है कि अपने पूर्वजों की परंपरागत रिचुअल्स से प्रेम। वहीं ईसाई चिन्तक लेक्टेटिअस ने रेलिजियो का मूल रे–लिगारे को बताया है। इस अर्थ में रेलिजियो का मतलब सत्य की पूजा और भ्रामक असत्य की पूजा।[18] रिलीजन की परिभाषा की उत्पति पर यदि ध्यान दें तो यह एक प्रकार के सत्ता का तर्क बन कर उभर रहा था और कालान्तर में परिवर्तित होने वाली परिभाषा में सत्ता का ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण था ।

कालांतर में रिलीजन मानव स्वभाव और समाज के साथ संवाद न करने के कारण राज्य की स्थापना एवं प्रकृति का कारक बन गया। यूरोप में चर्च एवं राजा के बीच सत्ता का संघर्ष एवं पूजा–पद्धति व्यवहार और राज्य के बीच युद्ध होने का ही परिणाम धर्मनिरपेक्षता है। भारत में ऐसे किसी भी कालखण्ड का प्रमाण नहीं मिलता है। भारत में धर्म नियम और नीति के साथ–साथ राजा और प्रजा के कर्त्तव्य से भी जुड़ा हुआ था। महाभारत के उदाहरण से इस बात को और स्पष्ट किया जा सकता है; द्रोपदी के

चीरहरण की घटना को यदि दृष्टिगत करें। इस समय धर्मनीति और धर्मनियम दोनों में एक तनाव की स्थिति थी। पाण्डव द्रोपदी को चौपड़ में हार चुके थे। नियम के अनुसार इस जीत के बाद दुर्योधन के लिए द्रौपदी खेल में जीती गयी एक संपति मात्र थी। वह उसके साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता था। पाण्डव भी इस नियम में बधे हुए थे। भीष्म भी अपनी प्रतिज्ञा से बंधे हुए थे। जिनके लिए धर्म राजा की सुरक्षा था। गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य अपने आप में राजा के नियमकार की भूमिका से ज्यादा कुछ नहीं थे। लेकिन इस सभा में विदुर मात्र एक ऐसे व्यक्ति थे जो धर्म के नियम और नीति दोनों के बीच खड़े थे। महाभारत में विदुर को महात्मा और नीतिकार कहा जाता है, क्योकि अन्य लोगों के लिए जहाँ नियम का पालन करना ही धर्म था वहीं विदुर के लिए नियम के परे जाकर नीतियों की समझ थी। साथ ही नीतिधर्म का पालन करना राजा के सभा में विदुर का कर्त्तव्य भी था। विदुर इस कार्य में निपुण भी थे।[19] जिसकी प्रशंसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी किया करते थे। विदुर ने अपने नीति धर्म के अनुसार द्रोपदी को खेल में हारे एक वस्तु के रूप में चिन्हित होने से पहले धृतराष्ट्र को यह बताया की द्रोपदी इस परिवार की पुत्रबधु और सबसे जेष्ठ पुत्र की पत्नी भी है जो अपने आप में इस सभा की मर्यादा मानी जानी चाहिए। इस प्रंसग से धर्म जब नीतियों से बंधा होता है तो वह तर्क के आधार पर न्याय तक पहुँचने का अवसर देता है। लेकिन जब वह नियम की डोर से बंधा होता है तो वह केवल आदेश और पालन का ही आधार बना रहता है। भारत में धर्म पर समझ बनाये जाने के लिए इन दोनों प्रवृति से होकर गुजरना होगा। क्योंकि इससे अलग हट कर धर्मसापेक्षता होने का मार्ग नहीं बनता।

इसका एक सामाजिक पक्ष यह भी है कि धर्म जैसे–जैसे सत्ता के साथ अन्योन्यक्रिया करने लगता है तो इस क्रिया में धर्म के मायने भी बदलने लगते हैं। आधुनिक काल में धर्म का सीधा संबंध संस्थानीकरण से है। इसे पश्चिमी संस्कृति के वर्चस्व के नए साम्राज्यवाद के रूप में समझा जाना चाहिए। पाश्चात्य संस्कृति में धर्म को धार्मिक सत्ता से अलग देखने की परंपरा समाप्त हो चुकी है। अब वहाँ धर्म के सत्ता के रूप में "गॉड" की सत्ता की ही मान्यता है। कई विश्लेषक इसे वैज्ञानिक आधार देकर इसे स्थापित करना भी चाहते हैं। रिचर्ड डावकिन नामक एक विद्वान् ने 'द गॉड डेल्युज'

नामक अपनी पुस्तक में गॉड की सत्ता को विश्लेषित करते हुए कहा है कि कई लोगों के भ्रामक आभास को धर्म कहते हैं जो विज्ञान के मार्ग की बाधा बना हुआ है।[20] पश्चिमी रिलीजन शब्द एवं व्यवहार को धर्म की भारतीय अवधारणा के साथ मेल बिठाना मुश्किल है। क्योंकि भारतीय समाज में विज्ञान और धर्म का एक साथ मेल सदैव रहा है। इन दोनों अवधारणाओं के प्रति शायद ही कोई विरोध रहा है।[21] धार्मिक चिन्तन 'थियोसेन्ट्रिक' नहीं रहा, बल्कि यह माना जाता रहा है कि यत् पिंडे तत् ब्रह्माण्डे अर्थात् जो पिंड में है वहीँ ब्रह्माण्ड में है।

हिन्दू धर्म में धर्म का अर्थ प्रकृति के शाश्वत नियम से है, जिसके पालन से मनुष्य अपनी पूर्णता कर प्राप्त कर सके। यह अवधारणा ही मनुष्य के पुरुषार्थ की अवधारणा से जुडा हुआ है। इस सन्दर्भ में दार्शनिक बर्टेन्ड रसेल ने स्वीकार किया है कि हिन्दू दर्शन आधुनिक विज्ञान के काफी करीब है।[22] रसेल की यह प्रस्थापना ही उन्हें आधुनिक और धर्म की कसौटी के बीच अंतर न करने वाले दार्शनिकों की श्रेणी में लाकर खड़ा करती है, तथापि उनका हिन्दू धर्म और दर्शन पर विचार रखना इस बात को इंगित करता है कि धर्म की अवधारणा भारतीय समाज में पाश्चात्य समाज की तुलना में कुछ अलग है। आधुनिक भारत में धर्म की व्याख्या और उसके वास्तविक स्वरूप की स्थापना का प्रयास कम हुआ है। इसके फलक को संकीर्ण मताग्रही बनाने का प्रयास ज्यादा हुआ है। इसके लिए राजनीति और धर्म के बीच के संबंधों की पड़ताल की आवश्यकता भी है।

**राजनीति और धर्म :**

भारतीय राजनीति में धर्म को लेकर दो समूह हैं। जिसे मैं यहाँ एक को धर्मनिरपेक्षीय समूह कहूँगा और दूसरे को धर्मसापेक्षीय समूह कहुँगा। इन दोनों की राष्ट्र दृष्टि में ही अंतर है। सामान्यतया धर्मनिरपेक्षीय समूह भारत की प्राचीनता, इसकी सांस्कृतिक और सभ्यतागत श्रेष्टता में विश्वास नहीं करता और पश्चिमी सभ्यता विशेषकर यूरोपीय और अमेरिकी मानदण्डों के आधार पर अपनी अत्यावलोचना करता है, स्वयं का आकलन ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में प्रचलित मान्यताओं के आधार पर करने लगता है। जबकि धर्मसापेक्षीय समूह भारत को एक सनातन राष्ट्र मानता है, उसका विश्वास है कि भारत का आस्तित्व युगों–युगों से हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दू दर्शन में सत्युग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग का उल्लेख

मिलता है, हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्त्व हजारों–हजारों वर्षों से अपने सर्वजीव कल्याण की धारणा से अपना वैशिष्ट्य बनाए हुए हैं। धर्मनिरपेक्षीय समूह भारत में धर्म को राजनीति से बाहर करने के तर्क को स्थापित करने का प्रयास करता है और आधुनिक राष्ट्र–राज्य का तर्क देता है जो यूरोपीय इतिहास का हिस्सा है। भारत से जुड़े महाकाव्यों में और उन से उपजी लोक स्मृतियों में धर्म और राजनीति के बीच किसी भी प्रकार का अलगाव नहीं था। यहाँ आवश्यक है कि आधुनिक समाज विज्ञान में हो रही धर्म और राजनीति के संबधों के विमर्श की पड़ताल की जाये ताकि धर्म और राजनीति के बीच होने वाले अंतःविरोध का स्पष्टीकरण किया जा सके। जब धर्मनिरपेक्षीय समूह के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय राष्ट्र–राज्य के लिए जरूरी है तो प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ब्रिटेन में चर्च और राज्य के बीच वर्चस्व को लेकर उपजा दर्शन क्या भारतीय समाज की प्रकृति के अनुरुप है। वहीं धर्मसापेक्षीय तर्क यह है कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में परिभाषित करने के लिए आवश्यक है कि हमें अपने अखंड भारत के गौरवपूर्ण इतिहास का सम्यक् बोध हो जिससे राष्ट्रवाद के स्थान पर राष्ट्र–भाव के विचार को स्थापित किया जा सके। इसके लिए रजनी कोठारी ने उचित ही बताया है कि भारतीय राजनीति में हिन्दू समाज भारतीय जीवन की आधारशीला और उसकी एकता का सूत्र है।[23]

हिन्दू समाज और इसकी सांस्कृतिक एकता के सूत्रों को भारत में धर्मसापेक्षीय राजनीति के प्रथम कारक के रूप में देखा जाना चाहिए। क्योंकि भारत में राजनीतिक सत्ता और सामाजिक शक्ति ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था का विकास किया जो समाज में व्याप्त प्रत्येक विविधता की आवश्यकता की पूर्ति कर सके। राजनीतिक विचारधारा और स्वीकार्य पद्धति (जो बहुत ही सफलता पूर्वक चल रही है और दुनिया की सफलतम व्यवस्थाओं में से एक के रूप में स्थापित भी हुई है परन्तु प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पाश्चात्य प्रेरित व्यवस्था से तादात्म्य बिठाना श्रेयष्कर है या अपनी प्रकृति और विरासत के अनुभव से व्यवस्था को श्रेष्ठ बनाना) को पुनः विश्लेषित करने की आवश्यकता है जिससे राजनीति और धर्म की अन्योन्यक्रिया के आधार अपर हम एक बेहतर राजनीतिक और सामाजिक जीवन का मार्ग निर्मित कर सकें। इस पद्धति में व्यक्ति की वृत्तियाँ ऊँची होती हैं, समाज और राज्य से वह ज्यादा माँगता नहीं है। समाज तनाव और

संघर्ष से बचा रहता है। हिन्दुओं में सहिष्णुता, अनासक्ति एवं संतोष के प्रति अधिक सम्मान है जो समाज के तनाव एवं आभाव की तीव्रता को रोकने में प्रबल सहायक है। साथ ही हिन्दू समाज में शोषण और वंचना को सहन करने की अपार शक्ति है। अवमानना के प्रति अत्यल्प संवेदनशीलता है और सत्ता के सदुपयोग एवं दुरुपयोग के प्रति उपेक्षा है। हिंदू समाज का ढाँचा अनेकात्मक है और उसमें छोटे–छोटे समूहों को भी महत्त्व प्राप्त है। इसके साथ "मोक्ष" को सबसे ऊँचा स्थान देने के फलस्वरूप हिंदू पद्धति में एक विशिष्ट प्रकार के व्यक्तिवाद का विकास हुआ है, जो आक्रामक नहीं है और जो पूरी तरह से धर्म के आचरण पर आधारित समाजोन्मुखी है। समाज व्यवस्था में चतुर्थ पुरषार्थ को महत्त्वपूर्ण माना गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अलगाव नहीं है बल्कि परस्पर अनुकूलता और पूरकता है। धर्म ही मूल है। धर्म के अनुरूप अर्थ संचय, उत्पाद, पोषण, वितरण, और धर्म के अनुरूप ही गृहस्थ जीवन एवं काम तीनों का संयोग मोक्ष की प्राप्ति का माध्यम है। यह हिंदू परंपरा आधुनिक लोकतंत्र के विकास में सहायक हो सकती है। जिसे पश्चिमी सभ्यता से प्रेरित दर्शन ने अमान्य कर दिया और हमने स्वीकार भी कर लिया है। यदि हम भारत की प्राचीन परंपरा और शासन प्रणाली और शासकों के जीवन चरित्र तथा नीतियों के क्रियान्वयन का अवलोकन करेंगे तो मिलेगा कि सब कुछ धर्म अनुप्रमाणित था। प्रजारंजन, प्रजा पालन, प्रजा कल्याण एवं सुरक्षा राजधर्म का मूलमंत्र था। वेदों, पुराणों, उपनिषदों, स्मृतियों, भाष्यों, और आदि काव्यों में अनेकानेक उदहारण इस धारणा को पुष्ट करते हैं ।

समाज एवं समाज विज्ञान में उदारवाद, मार्क्सवाद, व्यक्तिवाद, राज्यवाद, साम्यवाद, बहुसंख्यकवाद अल्पसंख्यकवाद, नवउदारवाद, अनुदारवाद, आदि विमर्शों ने भी धर्म और रिलीजन की अस्पष्टता को ही बढ़ावा दिया है। उपरोक्त सभी विचार पश्चिम के विचार हैं। इनका भारत के समाज और दर्शन से दूर–दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अनेकानेक नीतियाँ और विचार थोपे हुए प्रतीत होते हैं। सन्दर्भ अनेक हैं, बहुत विस्तार से लिखा जा सकता है। धर्म की संकल्पना रिलीजन से व्यापक और भारतीय समाज की प्रकृति के अनुरूप क्यों है; लिखा जा सकता है। परन्तु विषय को समेटना भी आवश्यक है। इसीलिए उपरोक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में विशेषकर हिन्दू

समाज में, जैन समाज में, बौद्ध समाज में समग्र जीवन को धर्मानुसार व्यतित करने के लिए नियमों का, नीतियों का निरूपण किया गया है। मानवता को धारण करने का विचार वास्तव में धर्म का विचार है। यह हिंसा से परे है। इसमें बहुलता है। "एक ही सत्य" की अवधारणा का इसमें कोई स्थान नहीं है। यही दर्शन ही भारत सहित समग्र विश्व के कल्याण के लिए आवश्यक है। इसलिए धर्म और रिलीजन का अंतर स्पष्ट तौर पर स्थापित होना चाहिए और कण–कण में व्याप्त धर्म यानि सुनीति के मूल विचारों की स्थापना होने चाहिए जिससे समाज में कर्तव्यबोध पैदा होगा और राम–राज्य की संकल्पना की स्थापना का स्वर्णिम स्वप्न भी साकार हो सकेगा।

**निदेशक, दक्षिणी दिल्ली परिसर**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

**संदर्भ एवं पाद टिप्पणी**

1. *महोपनिषद् अध्याय छः यंत्र 71*
2. *ऋग्वेद 1/22/18*
3. *महाभारत कर्णपर्व, 49/50*
4. *गीता, 18/33*
5. *ऋग्वेद 1/22/18*
6. *वही 1/10/55/3*
7. *अथर्ववेद 12/1/1*
8. *मैक्स मुलर (1901) ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ रिलिजन,.लन्दन, लागमैंन पृष्ठ संख्या.13–14*
9. *मनुस्मृति 7/92*
10. *चंद्रकिली (2004), इंट्रोडक्शन टू द मिडिल वे, बोस्टन, शम्भल.*
11. *शांतिपर्व 199/70*
12. *वनपर्व, अध्याय 314*
13. *वही*
14. *द्रोणपर्व, अध्याय 28*
15. *अरविंद (1950).द लाइफ डिवाइन. खण्ड II, अरविंदो आश्रम पॉन्डिचेरी. पृष्ठ संख्या, 726*
16. *Margaret smith (1980). The nature and meaning of mysticism, In Richard woods (ed.) understanding mysticism, London : Athlon press, P-20*

17. *S. Radhakrishnan (1923). Indian philosophy vol-1, londan: George allen and unwin,p 24-41*
18. *Richard king (1999)- Religion and orientalism : postcolonial theory, india and the mystic east,outledge.*
19. *महाभारत के इस प्रसंग के लिए हमने यहाँ लोकस्मृतियों का सहारा लिया है, जो कथा कहानियों के माध्यम से लोक में व्याप्त है और यह एक विषय है जिसपर स्वतंत्र शोध होने की आवश्यता है। लोकस्मृतियों में महाभारत और लिखित महाभारत में क्या अंतर और है, इन दोनों में व्याप्त कौन सी छवि लोकस्मृति में ज्यादा व्याप्त है।*
20. *Richard dawkin (2006), The god delusion, London : Bantam press-p-5*
21. *धर्म : हिंदूइज्म एंड रिलीजन इन इंडिया*
22. *Bertrand Russell,(1999), Russell on religion : selections from the writing of Russell, Lois greenspan and Stefan Anderson, (ed), UK : Routledge.*
23. *रजनी कोठारी (1970), भारत में राजनीति (अनुवादक : अशोक जी ), नयी दिल्ली , ओरियेंट ब्लाकस्वान, पृष्ठ संख्या,19*

# सत्ता की समझ

**जी.आर. मलकानी प्रणीत 'अ स्टडी ऑफ रियलिटी' का अविकल हिन्दी रूपान्तरण**

**अनुवादक : अनिल कुमार तिवारी**

## प्राक्कथन

तत्त्व या सत्ता की मीमांसा कोई लोकप्रिय विषय नहीं है। इस विषय में कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ अवश्य लिखे गए, परंतु दुर्भाग्य से उनमें कोई भी भारतीय विचार परंपरा के अनुरूप नहीं है। वे सभी पाश्चात्य विचारकों द्वारा पश्चिमी दृष्टिकोण से लिखे गए। वे एक तरह के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ तो हैं और उनके विश्लेषण में सूक्ष्मता भी है, लेकिन वे एक भारतीय की तत्त्वमीमांसा की भूख को नहीं मिटा पाते। यह पुस्तिका इसी कमी को पूरा करने का एक प्रयास है।

तत्त्वमीमांसा को विज्ञानों का विज्ञान कहा जाता है। इस पुस्तिका का अध्ययन करने वाले को निःसंदेह यह ज्ञात होगा कि इस वाक्य का हमारे लिए एक विशेष अर्थ है। (भारत में आत्मा को भी तत्त्व कहते हैं, और इसलिए तत्त्वमीमांसा यहाँ वास्तव में आत्म–मीमांसा है)। (हमारे लिए) यह (तत्त्वमीमांसा) आत्मा का विज्ञान है। यह एक प्राचीन विज्ञान है और इसका उद्‌भव तब हुआ था जब मानव का मन विज्ञान की अन्य विधाओं की प्रगति से विचलित नहीं हुआ था और अपनी शुद्धता में वह सामान्यतया जीवन के गूढ़ अर्थों और वस्तुओं की आंतरिक संरचना को समझने के लिए उत्सुक रहता था। मैं इस विषय से संबन्धित प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन का दावा नहीं करता। इस विषय पर लिखने की प्रेरणा का कारण मेरी इस प्रकार के चिंतन में अभिरुचि है जिसका आजकल उतना प्रचलन नहीं है, और मुझे विश्वास है कि मेरी यह प्रस्तुति रूढ़िवादी पंडितों और शास्त्रियों या प्राच्यविदों की अपेक्षा आज के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में शिक्षित एक बड़े वर्ग को प्रभावित करेगी। मैं विशुद्ध तत्त्वमीमांसा का एक सामान्य अध्येता हूँ और तार्किकता मेरे लिए मूल्य है। इस पुस्तिका के माध्यम से किसी


**ISSN-0974-0053**
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

प्राचीन समझ की व्याख्या करने के बजाय प्रस्तुत विषय पर मैं अपनी तार्किक समझ को लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ। इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि गूढ़ दार्शनिक पदावलियों का कम–से–कम प्रयोग किया जाय जिससे साधारण पाठक उनमें बिना उलझे मंतव्य को सीधे–सीधे समझ ले।

मैं अपने गुरु सेठ मोतीलाल मानिकचंद का आभारी हूँ जिन्होंने इस विषय और विधा में न केवल मेरी रुचि जगायी बल्कि व्यस्तता के बावजूद इस विचार से मुझे जोड़े भी रखा। इस पुस्तिका की मूलप्रति का एक बड़ा भाग उन्होंने स्वयं देखा तथा उनके दिये गए सुझावों को इसमें शामिल किया गया है।

## अध्याय 1 : सत्ता और आत्मा

"(इस जगत में) कुछ चीजें (वास्तविक) हैं" इस कथन की सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता। संदेहवाद (जिसके अनुसार कोई भी वस्तु, ज्ञान या मूल्य वास्तविक नहीं है) को कितना भी खींचे लेकिन इसे उस सीमा तक कभी भी नहीं ले जाया जा सकता जहाँ कम–से–कम संदेहवादियों के अनुसार उनके कथन "अन्ततः कुछ भी वास्तविक नहीं हो सकता" को सत्य न कहा जा सके, और इस प्रकार उसमें कुछ सीमा तक वह वास्तविकता आ जाती है जिसे वह चीजों में नकारना चाहता है। इस तरह संदेहवादी कुछ चीज के होने में विश्वास करने को बाध्य होता है और यह विश्वास उसके लिए आत्मघाती होता है। एक सुसंगत संदेहवादी को (स्वयं के अस्तित्व सहित) किसी भी चीज (वस्तु, ज्ञान, मूल्य) में विश्वास नहीं करना चाहिए तथा किसी चीज के वास्तविक होने का कथन नहीं करना चाहिए (अर्थात् न तो कथन करने वाला और न ही कथन वास्तविक हैं)। लेकिन तब कोई भी मनस् (अर्थात् व्यक्ति) नहीं मिल सकता जिसे सच्चे अर्थों में संदेहवादी कहा जा सके और इस प्रकार हम उसका कोई संज्ञान भी नहीं ले पाएंगे (क्योंकि वह अनस्तित्ववान है, यहाँ 'वह' वाचक न होकर भाषायी विवशता मात्र है)।

इसके अतिरिक्त संदेहवादी का कथन कि "कुछ भी वास्तविक नहीं हो सकता" केवल इस आधार पर महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि सत्ता में ऐसे गुण हों जिसे संदेहवादी के अनुभव में आने वाली कोई भी चीज उचित ठहराने में विफल रहे। परंतु यदि ऐसा हो तो संदेहवादी द्वारा सत्ता में ऐसे

गुण स्वीकार करने का औचित्य क्या होगा? एक वास्तविक वस्तु ही किसी गुण का आश्रय हो सकती है। यह आरंभ में ही निश्चित नहीं किया जा सकता कि कोई वस्तु किस तरह होगी। वस्तु की सत्ता के निश्चय के बाद ही उसके गुणों का निर्धारण किया जा सकता है (अर्थात् 'है' के उपरांत ही 'कैसी है' प्रश्न अर्थपूर्ण होता है)। इस प्रकार जानी गयी वस्तु के अस्तित्व की तर्कसंगत व्याख्या के उपरांत ही उसका वास्तविक वर्गीकरण किया जा सकता है।

(जगत में) कुछ चीजें वास्तविक हैं। परंतु जो भी वास्तविक है वह मुझे अपने से बाहर नहीं रख सकता (अर्थात् इनका होना मेरे अस्तित्व का व्यावर्तक नहीं है)। मेरी इनमें भागीदारी होगी (अर्थात् मेरा अस्तित्व वास्तविक चीजों में शामिल है)। यदि वे मेरी व्यावर्तक होतीं, यदि मैं वास्तविक नहीं होता, तो (मुझसे भिन्न) किसी चीज द्वारा मेरे ऊपर उत्पन्न प्रभाव किसी चीज के होने का संकेतक नहीं होता, तब मैं यह भी कहने की स्थिति में नहीं होता कि क्या वास्तविक है और क्या नहीं। और ऐसा होने पर न केवल दर्शनशास्त्र बल्कि समस्त बौद्धिक विमर्श का अवसान हो गया होता। चूंकि मैं वास्तविक हूँ इसीलिए मैं (अपने से भिन्न) वस्तुओं और घटनाओं से प्रेरित होता हूँ; इन प्रेरणाओं की वास्तविकता के आधार पर ही मैं उनके प्रेरक बाह्य कारणों की वास्तविकता को स्वीकार कर पाता हूँ और (उनके आधार पर) जीवन भी संभव हो पाता है।

अतः 'मैं' अवश्य हूँ। परंतु यदि मैं वास्तव में हूँ, तो जिस किसी भी चीज से मैं प्रेरित होता हूं वह केवल मेरी वास्तविकता का हिस्सा होगी, मुझसे पृथक उसकी वास्तविकता नहीं होगी। तब प्रेरित होने के कारण मुझे जिसे अवश्य वास्तविक जानना है वह मेरे द्वारा (प्रेरक कारणों के आधार पर) निगमित मुझसे भिन्न बाह्य सत्ता न होकर ऐसी सत्ता होगी जिसकी वास्तविकता में प्रेरक कारणों की बाह्य कारण के रूप में प्राप्ति और व्याख्या होती है। जो तत्त्वतः मुझसे बाहर है, वह मुझसे बाहर ही है, वह मेरे लिए कुछ भी नहीं है ('वह' भी नहीं)। केवल वही जिसकी मुझमें भागीदारी होती है (ज्ञान के विषय के रूप में) मेरे लिए वास्तविकता की एक झलक हो सकती है। इस तरह मैं न केवल सत्ता का एक घटक हूं बल्कि एक बहुत ही महत्वपूर्ण अर्थ में सत्ता का केन्द्रबिन्दु भी हूँ। इस अर्थ में सत्ता वह नहीं होगी जो वह है, बल्कि वह होगी जो मेरे द्वारा (जानी जाएगी और) व्याख्यायित

होगी, और यह व्याख्या पूरी तरह से मेरी सत्ता पर निर्भर है। सत्ता में कोई भी विशेषता हो सकती है। ऐसा कोई पूर्व निर्धारित नियम नहीं है जिसके द्वारा मैं उन विशेषताओं को निर्धारित कर सकूं। लेकिन चूंकि मैं समग्र रूप से सत्ता की व्याख्या करने के किसी भी प्रयास में अपने होने से बाहर नहीं निकल सकता, इसलिए मैं सत्ता में उन गुणों की कल्पना नहीं कर सकता जो उसमें तो हैं लेकिन मुझमें नहीं। बल्कि मेरी अपनी वास्तविकता की एक अचेतन व्याख्या की पृष्ठभूमि में ही सत्ता में किसी विशेषता की कल्पना की जाती है। क्योंकि मैं स्वयं की वास्तविकता के माध्यम से ही समग्रता का ज्ञान प्राप्त कर सकता हूँ, और यदि मुझमें किसी विशेषता की कमी है तो उस सीमा तक सम्पूर्णता के बोध में भी अपर्याप्तता होगी। केवल मेरी पूर्णता के माध्यम से ही किसी भी पूर्ण को पूर्ण समझा जा सकता है। इसलिए मैं ही वह मार्ग और एकमात्र तरीका हूँ जिसके द्वारा वास्तविक या संपूर्ण का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अब मेरे बारे में सबसे महत्वपूर्ण सत्य क्या है? इसमें कोई संदेह नहीं है कि मुझे अपने होने का अव्यवहित अनुभव है, मुझे अपने होने का बोध न तो किसी अन्य के उद्‌बोधन से हुआ है, न ही मैंने इसे अपनी किन्हीं दशाओं के आधार पर अनुमान से पाया है; बल्कि वे दशायें ही मेरी अपेक्षापूर्वक हैं। मेरे ज्ञान की संरचना में अपने होने के बोध जैसा किसी अन्य वस्तु का बोध नहीं है। क्योंकि जो 'मैं' नहीं हूँ, उसे या तो मेरी अवस्थाओं के भाग के रूप में या उनसे निगमित तथ्य के रूप में ही जाना जा सकता है। और किसी भी दशा में मेरे संबंध में इसका अस्तित्व मेरी मानसिक प्रकृति की सीमा के अंदर ही दर्शाया जा सकता है। अन्य वस्तुओं का बोध मेरे अपने अस्तित्व–बोध जैसा नहीं है जिसका कालांतर में, ज्ञानमीमांसा की भाषा में, न तो विरोध या अन्यथाकरण और न ही कल्पसृजन–कल्पना द्वारा निर्माण–किया जा सके (अर्थात् मेरा आत्मबोध मेरे अस्तित्व को अनिवार्य, त्रुटिहीन और कल्पनापोढ़ रूप में उपस्थित करता है)। मेरा होना मेरी सभी मानसिक गतिविधियों का आधार है, और इसलिए उनके द्वारा अगम्य है; स्वेतर वस्तु के ज्ञान के विपरीत मेरे अपने होने का बोध मेरी चेतना द्वारा सीमित (निर्मित) नहीं किया जा सकता। हालाँकि इसकी यह अज्ञातता (आत्मबोध की चेतना के विषय के रूप में उपलब्धि) इसके बारे में किसी वास्तविक ज्ञान की कमी का संकेत नहीं देती। बल्कि हम स्वयं को इतना

सीधे तौर पर जानते हैं कि हम जो कुछ भी जानते हैं उसका (उसी रूप में) वर्णन नहीं कर सकते, या प्रयत्न—गौरव के बाद हमें पता चले कि हम उस जैसा कुछ जानते भी हैं क्या। वास्तव में, हम कभी भी अपनी स्वयं की वास्तविकता पर संदेह नहीं करते हैं। और यदि हमने सही ढंग से विश्लेषण किया कि हम इसके बारे में क्या जानते थे, तो हमें पता चलेगा कि हम इसके बारे में सब कुछ जानते थे, कि हम स्वयं को पूरी तरह से जानते थे, जस—का—तस। केवल हमारे आत्मबोध (अपने होने के ज्ञान) को विषय—विषयी संबंध के रूप में नहीं रखा जा सकता।

हम स्वयं को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं; फिर भी यह ज्ञान अपनी विशिष्ट जटिलताओं से रहित नहीं है। ऐसा कहा जा सकता है कि जब तक मानसिक गतिविधि है तब तक हम अपने अस्तित्व का बोध रखते हैं, और उस अर्थ में हम स्वयं को जानते हैं। और जब मानसिक गतिविधि का अवसान होता है, तो हम अपने अस्तित्व की सारी चेतना खो देते हैं। अब यदि, जैसा कि हमने कहा, स्वयं को हमारी किसी भी (मानसिक) अवस्था में या उसके माध्यम से नहीं जाना जाता, तो जब हम शांत मनोदशा में होते हैं तो इसे पूरी तरह भूले क्यों होते हैं? (अर्थात् यदि अपने होने का अनुभव किसी मानसिक गतिविधि के फलस्वरूप होता, तो मानसिक गतिविधि के न होने पर यह बोध भी न होता; वास्तव में, शांत मनोदशा में हमें अपने होने का बोध भी नहीं रहता, हम बस 'होते' हैं)।

यह सत्य है कि हम कभी—कभी स्वयं के होने की सारी चेतना खो देते हैं। लेकिन क्या हमारी जानकारी में इस अ—बोध के समान कोई अन्य अनुभव राशि है? क्या हम कभी जानते हैं कि हमने स्व—चेतन होना बंद कर दिया है, या कि हम इस स्वचेतना के बिना हैं? वास्तव में, हमारे पास ऐसा ज्ञान नहीं है, और जैसा कि इसकी प्रकृति है, ऐसा अनुभव असंभव है। यदि हम वास्तव में स्वचेतना खो देते हैं, तो यह चेतना का अभाव होगा, और इसके अभाव में कोई भी ऐसा नहीं होगा जो इसके अभाव को जान सके। फिर हम कैसे पुष्टि करें कि हम स्वयं की चेतना खो देते हैं? जाहिर है, यह तभी होता है जब हम पूरी तरह से आत्म—जागरूक होते हैं और हम इसका कथन करते हैं और यह कथन महत्वपूर्ण (अर्थपूर्ण) होता है; लेकिन तब आत्म—चेतना कोई अभाव नहीं होता जिसे हम जान सकें।

अब यह तर्क दिया जा सकता है कि हम वास्तव में उस अभाव के तथ्य को नहीं जानते जब हमने आत्मचेतना खो दी थी परंतु यह (अनुभव का कालिक अभाव) हमें बाद में चेतना के लौटने पर इसे जानने से नहीं रोकता। और वास्तव में हम किसी तरह जानते हैं कि निद्रा एवं अन्य समान अवस्थाओं में स्वयं के होने की कोई चेतना नहीं होती है, शब्दशः कोई 'आत्म' (स्वयं) नहीं होता।

हम स्वयं इस ज्ञान के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते। परंतु इसकी संभावना पर प्रश्न उठाना रोचक है। जब हम पूरी तरह जाग्रत (आत्म–चेतन) दशा में होते हैं तो हमें पता होता है कि हमने नींद में इस चेतना को पूरी तरह खो दिया था। परंतु, इस बात को कैसे नोट किया गया, और किसने इसे नोट किया? 'मैं'(जागरूक मैं) इसे नोट कर नहीं सका, क्योंकि यह, अपनी स्वयं की घोषणा के अनुसार, मानसिक रूप से शांत था। हम बिना किसी संदेह के यह मान सकते हैं कि आत्मा, यद्यपि अक्रिय थी, परंतु उसका अस्तित्व बना हुआ था। लेकिन उस दशा में चेतना से रहित आत्मा की सत्ता होना, हमारे उद्देश्य के लिए, व्यर्थ है। यह कुछ भी नोट नहीं कर सकी। यह बिल्कुल पत्थर जैसा ही अस्तित्व होगा, और पत्थर से कभी किसी ज्ञान को धारण करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि आत्मा के अस्तित्व को उसकी चेतना से अलग नहीं किया जा सकता, और जहां चेतना अनुपस्थित है, वहां आत्मा को भी अनुपस्थित माना जाना चाहिए। और यदि किसी भी दशा में आत्मा अनुपस्थित है, तो इस अनुपस्थिति का ज्ञान असंभव है। हमारे पास यह ज्ञान है (अर्थात् मुझे यह स्मरण होता है कि मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे निद्रा या बेहोशी की दशा में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ आदि, तो इन दशाओं में मेरा किसी–न–किसी रूप में अस्तित्व अनिवार्य है) इसके और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

एकमात्र व्याख्या जो हमें संभव लगती है वह यह है कि वास्तविक आत्म–चेतना कभी जाती नहीं। वह चली गयी, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि हम इसके भाव को मानसिक क्रिया के मात्र एक भाग तक सीमित कर देते हैं। इस क्रिया को हम जानते हैं कि यह शुरू होती है और समाप्त होती है, यह (नाटक के पात्र की तरह) एक मंच पर आती है और फिर गायब हो जाती है। इसका होना और समाप्त होना हम तब तक नहीं जान सकते जब तक हम प्रक्रिया के आरंभ में, उसके दौरान और उसके अंत तक जागरूक

ढंग से उपस्थित न हों। न तो हमारा अस्तित्व और न ही हमारा आत्म–बोध अस्थायी (क्षणिक) है। आत्मा वास्तव में समय से परे है, और इसके अस्तित्व और ज्ञान में तादात्म्य है। आत्मा मानसिक जीवन के साथ नहीं आती और न ही उसके साथ समाप्त हो जाती है। यदि ऐसा होता, यदि आत्मा का केवल एक मानसिक अस्तित्व होता, तो यह बोध भी संभव नहीं होता कि वह किसी भी समय चेतना या ज्ञान रहित दशा में रही। आत्मा का मानसिक क्रिया से पृथक एवं बौद्धिक अस्तित्व की स्वीकृति ही इस अर्थ में चेतना की संभावना की व्याख्या कर सकती है। हम हैं और यह कहा जा सकता है कि हम स्वयं को जानते भी हैं, चाहे हम इसे (इस बात को) जानें या नहीं। उस बौद्धिक सत्ता से अधिक हमारे निकट या अधिक समझदार क्या हो सकता है जिसके कारण हम पृथ्वी पर या स्वर्ग में सब कुछ जानते हैं, और यहां तक कि अपने चेतन और अचेतन अस्तित्व की अवस्थाओं को भी जानते हैं? उस सत्ता से अधिक स्थायी क्या हो सकता है जिसके अस्तित्व में कोई भी दरार कभी भी ज्ञात नहीं होगी, क्योंकि ऐसा ज्ञान स्वयं में विरोधाभासी होगा (होने और न होने का संयोजन होगा)? स्वयं की वास्तविक मृत्यु (अपने न होने) को कभी नहीं जाना जा सकता, और इसलिए इसे कभी भी तार्किक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

हमारे साक्षात् अन्तर्ज्ञान में उपलब्ध एकमात्र सत्ता हमारा स्वयं का ही अन्तर्ज्ञान है। बाकी सब कुछ केवल अपनी गुजरती हुई अवस्थाओं में ही जाना जाता है, और केवल तभी वास्तविक होता है जब वह उन अवस्थाओं का हिस्सा बनता है या उनसे अनुमानित होता है। स्वयं से भिन्न "होने" का कोई अंतर्ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि सभी अन्तर्ज्ञान आवश्यक रूप से आत्म के अन्तर्ज्ञान पर निर्भर हैं। इसलिए स्वयं से भिन्न सत्ता का कभी भी अंतर्ज्ञान नहीं हो सकता; और जो कभी भी अंतर्ज्ञान में नहीं आता उसका कोई अस्तित्व नहीं होता।

इस प्रकार सत्ता का हमारा पहला विश्लेषण हमें उसके वास्तविक धरातल, आत्मा, पर ले आता है। इसके अलावा कोई सत्ता नहीं हो सकती। जो वास्तविक प्रतीत होता है, वह केवल आत्मा के लिए और आत्मा में ही वास्तविक है। दूसरी ओर, आत्मा को कोई जान नहीं सकता क्योंकि यह किसी की (मानसिक) अवस्था का हिस्सा नहीं बनती। ऐसा कहा जा सकता है कि यह ज्ञान की वस्तु नहीं बल्कि ज्ञान ही है, क्योंकि इसका अस्तित्व उस

चीज से भिन्न नहीं है जिसे सच्चा ज्ञान कहा जा सकता है। हम स्वयं को जिस तरह जानते हैं उस तरह और कुछ भी नहीं जान सकते; और फिर हमारी सभी चीजों के बारे में ज्ञान की व्याख्या विषय–विषयी संबंध के आधार पर करने की गलत प्रवृत्ति है, जिसके कारण हम स्वयं से अनजान प्रतीत होते हैं। हालाँकि सच्चाई यह है कि हम स्वयं को जानते हैं, और इसके जैसा और कुछ भी नहीं जानते जिससे इसकी तुलना की जा सके। हम जिस किसी चीज से इसकी तुलना कर सकते हैं उसे पहले हमारे सचेतन जीवन का भाग बनना होगा (ज्ञान की वस्तु बनना होगा), और इस तरह वह समस्त चेतना के आधार–आत्मा–से वस्तुतः अविरोधी हो जाएगा (आत्मसात हो जाएगा)।

## अध्याय 2 : मिथ्या की अवधारणा

पिछले अध्याय में हमने दिखाया कि आत्मा न केवल सत्ता का केंद्रीय तथ्य है बल्कि साक्षात् अन्तर्ज्ञान में उपलब्ध एकमात्र सत्ता है। परंतु, यह उन लोगों को संतुष्ट नहीं करेगा जो आत्मा के अन्तर्ज्ञान जैसी घटना पर ही संदेह करते हैं जैसा कि हम उन्हें विश्वास दिलायेंगे कि ऐसा है। वे तर्क दे सकते हैं कि हमारा ज्ञान केवल उसी तक सीमित है जो किसी तरह हमारे मानसिक जीवन का हिस्सा बनती है; जो इसका भाग नहीं बनता वह कभी ज्ञात नहीं होता और न ही कभी जाना जा सकता है। (इनके अनुसार) जिसे हम अपना आत्म कहते हैं उसका अंतर्ज्ञान किसी मानसिक गतिविधि का अंतर्ज्ञान है और जहां मानसिक गतिविधि पूरी तरह से अनुपस्थित है, वहां ऐसा कोई अंतर्ज्ञान नहीं है।

बहुत पहले विलियम जेम्स ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि विचार ही एकमात्र विचारक है। यहाँ इसकी चर्चा महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिए इतना ही ध्यान रखना पर्याप्त है कि कोई भी मानसिक दशा जिसके बारे में हम कभी चेतन हो सकते हैं वह स्वयं के अंतर्ज्ञान में उतना ही वस्तुनिष्ठ है जितना वे वस्तुएं जिन्हें हम भौतिक जगत कहते हैं। फिर भी हम नितांत वैयक्तिक अनुभवों पर आधारित तर्क पर ही पूरी तरह भरोसा नहीं करना चाहते। इसलिए हम एक बिलकुल सामान्य प्रश्न उठाते हैं : व्यक्ति निरपेक्ष (पूर्णतया वस्तुनिष्ठ) ढंग से समझी जाने वाली सत्ता की विशेषताएं क्या होनी चाहिए?

निश्चित रूप से सत्ता की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका मिथ्या से भिन्न होना है। (वैसे) एक तर्क के अनुसार कुछ भी मिथ्या नहीं हो सकता है, क्योंकि (सामान्य जगत में) पूर्णतया असंगत प्रतीत होने वाली वस्तु भी किसी (उपयुक्त) प्रकार के संभावित जगत में वास्तविक हो सकती है। लेकिन यह तर्क भी सत्ता की कुछ विशेषता को आपादित करता है और इस विशेषता के बिना किसी जगत विशेष की संकल्पना असंभव होगी। इसलिए चर्चा के प्रारम्भ में ही हमें किसी अर्थ में (वास्तविक) सत्ता का मिथ्या (आभासी सत्ता) से अंतर करना आवश्यक है।

तो (प्रश्न है कि) मिथ्या से हम क्या समझते है? यह माना जा सकता है कि यह एक सरल अवधारणा है और सभी को इसका अर्थ पता है। परंतु यह सच्चाई नहीं है। मिथ्या की अवधारणा को समझना इतना सरल नहीं है। सामान्यतया इसे उन अवधारणाओं से अभिन्न मान लिया जाता है जिनसे से यह पूरी तरह अलग है। हमारे विचार में इसे सबसे पहले तो "विचारों में असंगति" की अवधारणा से अलग समझना होगा। त्रिकोण के चौथे कोण को अवास्तविक कहा जा सकता है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'मिथ्या' का उचित अर्थ नहीं है। "त्रिकोण का चौथा कोण" (भाषिक रूप से) किसी इकाई का वाचक प्रतीत होता है परंतु यह एक वाच्यहीन अभिव्यक्ति है (अंतर्वस्तुहीन आकार मात्र है, वस्तुशून्य विकल्प मात्र है)। एक त्रिकोण और चार कोणों वाली (ज्यामितीय) आकृतियां दो पृथक इकाइयाँ हैं, जिनके रूप को देखें तो उनमें कुछ भी समानता नहीं है। (इसलिए) पहले में दूसरे के गुणों का कथन करना अंतर्विरोध है और ऐसी इकाई (त्रिकोण का चौथा कोण) विचार के लिए तुच्छ वस्तु है और ऐसी वस्तु न तो वास्तविक न ही संभावित रूप में विचारणीय हो सकती है। (वस्तुशून्य) भाषिक संरचना 'त्रिकोण का चौथा कोण' वास्तव में भ्रामक है। यह किसी का वाचक नहीं है (केवल वाचक लगता है), इस प्रकार इसके द्वारा किसी मिथ्या वस्तु का संकेत नहीं किया जा सकता। मिथ्या की अवधारणा विरोधाभासी विचारों से निगमित इन जैसे तुच्छ उदाहरणों से अधिक छलपूर्ण है। ये (भाषायी रचनाएँ) विकल्प प्रमाण की किसी भी प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के पहले ही गायब हो जाते हैं (अर्थात् इन विकल्पों की वस्तुशून्यता कथन का अर्थ समझते ही प्रकट हो जाती है और इनके वास्तविक, अवास्तविक या संभावित सिद्ध करने की प्रक्रिया का वहीं उपराम हो जाता है)। वे मात्र विचार (भाषिक विश्लेषण) से गायब हो जाते हैं।

इसके अलावा मिथ्या की धारणा को 'असत्य' या जानबूझकर 'झूठ' बोलने से अलग किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, (मान लीजिये कि) 'अ' यह बयान देता है कि 'ब' ने एक विशेष समय और स्थान पर स्वराज विषय पर एक व्याख्यान दिया था, जबकि वास्तव में ब ने ऐसा नहीं किया था। यहां अ किसी भी बात को गलत नहीं पढ़ता, गलत नहीं समझता। उसके पास उस तथ्य की ओर संकेत करने वाला किसी भी प्रकार का कोई प्रमाण नहीं है जिसकी वह पुष्टि करना चाहता है। वह वास्तव में एक (झूठी) कहानी गढ़ता है और उसे सच की तरह प्रसारित करना चाहता है; और वह स्वयं इससे छला नहीं जाता (क्योंकि उसे सच्चाई पता है)। उसके लिए इसमें कुछ भी सत्य नहीं है, क्योंकि उसके रिपोर्ट गढ़ने वाले आरंभिक आशय में ही कुछ भी सत्य के रूप में उपस्थित नहीं था। वह (अर्थात् अ) निश्चित रूप से जानता है कि ब ने वह (व्याख्यान) नहीं किया जो वह (यानि अ) उसके द्वारा किए जाने को बता रहा है। तदनुसार, अ के अनुभव में ऐसा कुछ भी नहीं है जो आभासी हो और जिस पर मिथ्या होने का आरोप लगाया जा सके (यह सरासर झूठ है, पूरी तरह असत्य है जो अ को पता भी है)। फिर मिथ्या क्या है? यह तथ्य मिथ्या नहीं हो सकता कि ब ने व्याख्यान दिया था, क्योंकि जिसे इसकी अवास्तविकता पता है उसके द्वारा इसे कभी तथ्य के रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया।

कोई चीज मिथ्या तब मानी जाती है जब किन्हीं साक्ष्य के आधार पर वह सामान्यतः विश्वसनीय प्रतीत होती है, लेकिन और बेहतर साक्ष्य के आधार पर उसे निरस्त किया जाता है। मिथ्या केवल वास्तविक अनुभव की वस्तु से संबंधित होती है, न कि किसी ऐसी चीज से जो हमारे लिए कभी भी असत्यता का आभास भी नहीं देती। इसके अलावा, यह देखा जाएगा कि मिथ्या की हमारी परिभाषा के अनुसार, कई चीजें वास्तविक हो सकती हैं जो वास्तव में अवास्तविक हैं। इनमें से कुछ ऐसी भी होंगी जिन्हें ज्ञान के सामान्य साधनों से अवास्तविक माना जा सकता है, जैसे रस्सी को साँप समझ लेना। लेकिन निश्चित रूप से ऐसी चीजें हो सकती हैं जिनको इतनी आसानी से भ्रामक नहीं जाना जा सकता है; और तब प्रश्न उठता है कि पूर्ण वास्तविकता क्या है?

हमारे विचार में यह प्रश्न अपने समाधान के लिए उन विभिन्न साक्ष्यों के विचार पर निर्भर है जिन्हें हम चीजों को जानने के लिए प्रयोग

करते हैं और जो उनके पक्ष में सहमति के लिए हमें विवश करते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य जिसके द्वारा हम चीजों को समझते हैं वह है इंद्रिय–प्रत्यक्ष। यहां प्रायः गलती होती है और उसे सुधारा भी जाता है। एक इंद्रिय दूसरी इंद्रिय की त्रुटि को सुधारती है, और एक ही इंद्रिय बेहतर परिस्थितियों में अपनी त्रुटियों को सुधारती है। इन सबके होते हुये भी जो साक्ष्य या प्रमाण (वस्तु के लिए) हमारी स्वीकृति का आधार बनते हैं वे न तो पूर्ण रूप से विश्वसनीय होते हैं और न ही शर्त रहित। हम हमेशा उन चीजों की वास्तविकता पर संदेह करते हैं जिन्हें हम इंद्रियों के माध्यम से जानते हैं और ऐसा करने से स्वयं को रोक भी नहीं पाते। इस प्रकार के साक्ष्य अपनी प्रकृति से ही अविश्वसनीय हैं। हम निश्चित रूप से जानते हैं कि ऐंद्रिक ज्ञान से वस्तु के वास्तविक स्वरूप तक कभी नहीं पहुंच सकते, उसे जस–का–तस नहीं जान सकते। लेकिन (ऐंद्रिक) साक्ष्य की सीमा के साथ–साथ हम यह भी जानते हैं कि इस साक्ष्य का कोई अन्य रूप नहीं है जो इसकी त्रुटियों को पूरी तरह से ठीक कर सके। क्योंकि यहां (ज्ञेय) वस्तु और वस्तु के (ज्ञापक) प्रमाण के बीच एक न पटने वाली खाई है। कोई वस्तु स्वयं के लिए साक्ष्य है नहीं, साक्ष्य बुद्धिमान प्रकृति द्वारा ही प्रदान किया जाता है, जबकि वस्तु स्वयं अबौद्धिक है। इसलिए यह पूछना कि वस्तु अपने आप में क्या है?, एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न खड़ा करना है। क्योंकि जो स्वयं–प्रमाण नहीं है, उसे केवल वैसा ही जान सकते हैं जैसा उसे (उपलब्ध) प्रमाण हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं, और जिसे (ऐंद्रिक) साक्ष्यों द्वारा जैसा प्रस्तुत किया गया है, वह अपने आप में वैसा हो नहीं सकती।

जो इन्द्रिय साक्ष्य या उस पर निर्भर किसी अन्य साक्ष्य से सिद्ध होता है उसका वास्तव में 'कुछ होना' प्रतीत हो सकता है। और उस सीमा तक वह वास्तव में कुछ हो सकता है। लेकिन यह कुछ ऐसा है जो उसके जनक जैसे परंतु बेहतर साक्ष्य के आधार पर सदैव निरस्त करने योग्य है। और अंततः, वस्तु और वस्तु के साक्ष्य के बीच की खाई को कभी भी पाटा नहीं जा सकता है और वस्तु आभासी बनी रहती है तथा अपने अस्तित्व और स्वरूप के लिए अपने (उत्पादक) प्रमाण या साक्ष्य पर निर्भर होती है। (ज्ञापक) इंद्रियों और (ज्ञेय) वस्तुओं का जगत तब हमारी परिभाषा के अनुसार "मिथ्या" शब्द से संकेतित होगा। क्योंकि यह अपने स्वभाव से ही निरस्त किये जाने योग्य है।

सत्ता केवल उसी से संबंधित हो सकती है जो उसका अपना साक्ष्य है, और इसलिए उसे किसी अन्य साक्ष्य द्वारा कभी भी मिथ्या या निरस्त नहीं किया जा सकता है। आत्मा ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जो स्वयं के लिए प्रमाण है, और इसलिए उसे कभी भी जो वह है उससे भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता। यह एकमात्र ऐसी चीज है जिसे हम वास्तविक मानते हैं, और यह हमेशा और सभी परिस्थितियों में वास्तविक है।

मिथ्या वह है जो अपनी प्रतीति से भिन्न होता है। वास्तविक तो वही है जिसमें इसकी प्रतीति होती है। जो प्रतीत होता है वह केवल उस व्यक्ति के लिए कुछ हो सकता है जिसे वह प्रतीत हो रहा है, और जो उस व्यक्ति की ग्रहण क्षमता के अनुरूप है। इसके 'कुछ होने' का निर्धारण उसमें अंतर्निहित किसी साक्ष्य द्वारा नहीं, बल्कि उस प्रत्यक्षदर्शी को उपलब्ध साक्ष्य द्वारा किया जाता है जिसे वह प्रतीत होता है। संभव है यह प्रतीति अपने आप में कुछ भी न हो, यह प्रतीति मात्र हो। वास्तविक को निश्चित रूप में स्वयं–प्रमाण होना चाहिए, इसे आभासी नहीं होना चाहिए। आत्मा ही एकमात्र सत्ता है जिसकी प्रतीति नहीं होती। (क्योंकि) इसका अस्तित्व और इसके अस्तित्व का अन्तर्ज्ञान अलग–अलग नहीं हैं। यह अन्य चीजों को जानने के लिए इंद्रियों और बुद्धि का उपयोग करती है; यह स्वयं को उनके माध्यम से नहीं जानती। यह सच में स्व–ज्ञात है (इसे स्वयं का अपरोक्ष ज्ञान है), और इसलिए पूर्णतया वास्तविक है।

## अध्याय 3 : सत्ता और अनुभव

हमने अभी तक सत्ता को मिथ्या से अलग समझने का प्रयास किया है। अब हम इसके कुछ मौलिक धर्मों का विश्लेषण करेंगे। सामान्य ढंग से वास्तविक को स्वयं में कुछ होने के रूप में जाना जाता है (अस्तित्व मात्र के अर्थ में जानना)। ऐसा लगता है कि सत्ता के रूप में जो भी जाना जाता है उसका एक अंश यह है कि सत् (वास्तविक) किसी व्यक्ति के अनुभव से स्वतंत्र है (वस्तुवादी दृष्टिकोण से वस्तु का बोध से स्वतंत्र अस्तित्व माना जाता है, अर्थात् वस्तु का अस्तित्व उसके ज्ञान पर निर्भर नहीं है; वस्तु है इसलिए यह संभव है कि उसे उस रूप में जाना जाय जिस रूप में वह है)। लेकिन जो किसी के अनुभव से स्वतंत्र है वह वास्तव में अनुभव मात्र से स्वतंत्र है क्योंकि कोई भी अनुभव किसी व्यक्ति का अनुभव होगा। इसलिए

हम इस पर विचार करेंगे कि क्या सत्ता सच्चे अर्थों में सभी अनुभवों से स्वतंत्र कही भी जा सकती है।

सबसे पहले इतना तो स्पष्ट है कि हम सत्ता और ज्ञान के बीच घनिष्ठ संबंध से परिचित हैं। जो सत् है वह हमें तभी प्रभावित कर सकता है जब वह हमारे ज्ञान का विषय बने, और जिसका कभी ज्ञान नहीं होता वह कभी भी सत् नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सत्ता कुछ भी हो सकती है; लेकिन यह उसी सीमा तक सत् हो सकती है जहां तक इसका हम पर असर पड़ता है या इसे हम जानते हैं। जो इन सम्बन्धों से परे है वह हमारे लिए कुछ भी नहीं, और इसके बावजूद भी यदि हम इसकी प्राक्कल्पना करते हैं, तो यह अस्वीकार्य और अतार्किक बात होगी। यह स्पष्ट है कि सत्ता की ज्ञान के साथ एकता पूर्णतया हमारे अनुभव का भाग तभी मानी जाएगी जब हम उसके बारे में कुछ कहने की स्थिति में हों।

परंतु क्या कोई व्यक्ति–निरपेक्ष दृष्टिकोण हो सकता है जिसके अनुसार इस समस्या को हल किया जा सके? वास्तव में ऐसा कोई दृष्टिकोण नहीं। इसलिए यह चर्चा का विषय नहीं है कि सत्ता का ज्ञान से कोई संबंध नहीं है या इसे जाना नहीं जाता। बल्कि यहाँ यह प्रस्तावित है कि सत्ता को जाना तो जा सकता है परंतु पहली बात यह कि इसे पूरी तरह न जाना जा सके, और दूसरी बात यह कि इसे जानने के बावजूद यह वास्तव में जैसी है वैसी न जाना जा सके। दूसरी बात हमारे लिए यहाँ उतनी प्रासंगिक नहीं है। प्रस्तुत संदर्भ में हमें यह देखने की आवश्यकता है कि यदि सत्ता जैसी है हम उसे वैसी नहीं जानते तो क्या इसे हम बिलकुल भी नहीं जानते। इसलिए हमें यह मानकर चलना होगा कि कम–से–कम जो कुछ भी हमें सत् के बारे में ज्ञान है उसका सत् से संबंध है। यदि हमारे ज्ञान का वास्तविकता से कोई संबंध ही नहीं है और हम उसकी तरफ कोई संकेत भी नहीं कर रहे तो कोई समस्या ही नहीं है; क्योंकि तब हम उसके या उसके ज्ञान से किसी संबंध के बारे में कोई अर्थपूर्ण चर्चा भी नहीं कर सकते।

इसलिए हम यह मानकर चलते हैं कि सत्ता को उसके निजरूप में जाना जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि यदि यह जानी नहीं गयी तो क्या यह जैसी है वैसी निरंतर बनी रहेगी? वास्तव में हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि कोई वस्तु निरंतर वैसी बनी रहेगी जैसी वह है यदि वह जानी नहीं भी गयी; हम केवल इस वस्तु के प्रति अपने वास्तविक ज्ञान

की व्याख्या भर कर सकते हैं। तब इस ज्ञान को उस स्वतंत्रता से पूरी तरह व्यापक माना जाना चाहिए जो सत्ता इसके संबंध में रख सकती है (अर्थात् जैसे वस्तुनिष्ठ सत्ता ज्ञान से पूर्णतया स्वतंत्र है वैसे ही ज्ञान में उपलब्ध सत्ता भी सत्ता से पूर्णतया स्वतंत्र है, और व्यक्ति को अपने ज्ञान में उपलब्ध सत्ता की व्याख्या करने की स्वतन्त्रता है और यह स्वतन्त्रता चेतन की स्वतन्त्रता होने के कारण वस्तु की स्वतन्त्रता से व्यापक है)।

निश्चित रूप से हमारा साधारण अनुभव अपने से स्वतंत्र (पृथक) किसी चीज का संकेत करता प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि किसे हम भौतिक वस्तु कहते हैं; और उनके अस्तित्व का स्वरूप तथा जिस प्रकार हम उन्हें जानते हैं दोनों इस बात का संकेत करते हैं कि वे हमारे जानने से पहले विद्यमान थीं। (ज्ञान की प्रक्रिया में) हम केवल, अपने से पृथक बाह्य जगत में, उनके होने को जानते हैं, न कि यह जानते हैं कि उनका अस्तित्व हमारे चिंतन के कारण उसके साथ शुरू हुआ। इस बात के समर्थन में कि चीजों का अस्तित्व उनके ज्ञान के पूर्व होता है इतना ही कहा जा सकता है। परंतु यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है कि जब वे ज्ञात नहीं हैं तो उनका अस्तित्व कैसे है? यदि उसके (ज्ञानपूर्व) अस्तित्व के प्रकार में उसे उसके वर्तमान (ज्ञान के पश्चात) अस्तित्व से अलग करने के लिए कुछ भी नहीं है, तो अनुभव के जिन रूपों में इसके अस्तित्व का विश्लेषण किया जा सकता है, उन्हें वास्तव में इसके अतीत और कथित स्वतंत्र अस्तित्व से बाहर नहीं किया जा सकता है। मात्र समय परिवर्तन से चीजों के स्वरूप में बदलाव नहीं पड़ सकता। वास्तव में एक अर्थ में समय को वस्तुओं के अस्तित्व का अंग कहा जा सकता है; लेकिन इस अर्थ में उसके समग्र अस्तित्व को काल के अलग–अलग क्षणों में अलग–अलग माना जाना चाहिए, और इस प्रकार यह कहना सही नहीं होगा कि जिस चीज को वर्तमान में जाना गया है वह इसके पूर्व अस्तित्व में थी (क्योंकि वस्तु का अस्तित्व प्रत्येक क्षण काल–विशिष्ट है और इस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण नवीन है)।

इतना ही नहीं, वस्तु का संकेत करने वाली प्रत्येक दशा में अनुभव निहित होता है। हम कहते हैं कि वस्तु ज्ञात होने से पहले ही अस्तित्व में थी। परंतु वस्तु के अतीत की बात अनुभव की एकता के भीतर ही अर्थपूर्ण है। अनुभव के संबंध में भूतकाल को कभी भी अतीत के रूप में नहीं जाना जा सकता है। यह परिवर्तन के मध्य अनुभव की एकात्मता की पहचान ही है जो

कालिक परिवर्तन और उसके विभिन्न चरणों के ज्ञान को संभव बनाती है। इसलिए जो चीज अनुभव के दायरे में नहीं आती, उसे कभी भी कालक्रम में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, यह नहीं कहा जा सकता कि वह अतीत में अस्तित्व में थी ('अतीत में अस्तित्व' कहना 'भूत में वर्तमान' कहने जैसा हास्यास्पद है)। इस प्रकार अनुभव की एकता समस्त अस्तित्व, अतीत, वर्तमान और भविष्य में व्यापक है; इससे अधिक व्यापक कुछ नहीं हो सकता।

यहाँ हमें (अस्तित्व के) कालिक विभाजन के बारे में अपने ज्ञान का कुछ विश्लेषण करना अच्छा रहेगा। यह स्पष्ट है कि कोई चीज अपनी किसी विशिष्टता के कारण (केवल) वर्तमान में नहीं कही जा सकती। इसे केवल वर्तमान में इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इसे एक विशेष तरीके से अनुभव किया जाता है। इस अनुभव को वस्तु के वर्तमान अनुभव के रूप में सर्वोत्तम रूप से वर्णित किया जा सकता है। वह वस्तु अपने आप में न तो वर्तमान में है, न अतीत में, न ही कहीं और। फिर, किसी चीज के अतीत के अस्तित्व को तभी कहा जा सकता है जब वह अनुभव से इस तरह से संबंधित हो जो उसके वर्तमान के अनुभव से सर्वथा भिन्न होते हुये भी उसमें (वर्तमान के अनुभव में) शामिल हो। जब तक किसी चीज का वर्तमान में अनुभव न किया जाए, हमें अतीत का विचार या वर्तमान से पूर्व में स्थिति किसी चीज का कोई विचार नहीं हो सकता; और ऐसा विचार करने में, हमारा अनुभव उस चीज तक पहुँच जाता है जिसे वह अतीत की वस्तु मानता है। अनुभव की वे वस्तुएं जो अनुभव से पहले विद्यमान होने के रूप में उपस्थित होती हैं, वास्तव में इस अनुभव का संकेत देती हैं, और ऐसा आभास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वस्तुएं वास्तव में ऐसे रूप में विद्यमान थीं।

अब यह तर्क दिया जा सकता है कि हमें अनुभव से स्वतंत्र वस्तु का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए इस तथ्य की आशंका पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है कि यह वस्तु अनुभव में आने के पूर्व अतीत में विद्यमान थी और (हमारे) अनुभव से पहले भी अस्तित्व में थी। इसकी (अनुभव से) स्वतंत्रता इस बात से ही सिद्ध होती है कि यह हमारे वर्तमान अनुभव का भाग बन रही है। वस्तु के अनुभव में ही यह शामिल होता है कि यह अनुभव करने वाले मन और अनुभव से स्वतंत्र है। अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि हम किसी भौतिक वस्तु के अस्तित्व के स्वरूप और किसी विचार के

अस्तित्व के स्वरूप में भेद करते हैं। हम कहते हैं कि जहाँ विचार मन में है, वहीं भौतिक वस्तुएं मन के बाहर। लेकिन क्या हम वास्तव में किसी चीज के मन से बाहर होने को अनुभव सकते हैं? क्या 'मन के बाहर' एक अर्थहीन वाक्यांश नहीं है? अनुभूत वस्तु अनुभव से बाहर नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता, तो इसे कभी अनुभव नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त अनुभव अमानसिक (अबौद्धिक) नहीं है। तो फिर किस अर्थ में हम कह सकते हैं कि वह चीज मन के बाहर है? हमें यह कहना आत्मव्याघाती प्रतीत होता है कि किसी चीज का अनुभव मन से बाहर हुआ।

यह सच है कि कोई वस्तु बाह्य जगत में, भौतिक देश में स्थित प्रतीत होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यह (वस्तु) मन के बाहर की घटना है। यह अपने अस्तित्व के स्वरूप का संकेत करती है, वह स्वरूप जो केवल अनुभावक मन के लिए महत्त्वपूर्ण है। कोई वस्तु अपने–आपके लिए वस्तु नहीं है। न ही कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के लिए वस्तु है। वस्तुनिष्ठ अस्तित्व कोई आत्म–निर्भर अस्तित्व नहीं है। यह किसी विषयी (अनुभावक मन) के संदर्भ में और उसके लिए अस्तित्व है। वस्तु के अस्तित्व को (अनुभावक) मन से सर्वथा स्वतंत्र कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

इस समस्या के और पास आने पर हम पाते हैं कि चीजें जो रूप धारण करती हैं, उन्हें जिस तरह से अनुभव किया जाता है, उसके अलावा उन्हें समझा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, एक ध्वनि जो ध्वनि के रूप में नहीं सुनी जाती है वह किसी भी अर्थ में ध्वनि नहीं हो सकती है, एक रंग जो दिखाई नहीं देता है वह रंग नहीं है, आदि। वास्तव में ऐसा कोई रूप नहीं है जिसे कोई वस्तु ग्रहण कर सके जो अपने द्वारा और अपने आप में बिना किसी ऐंद्रिक अनुभव से सम्बन्धित हुए बुद्धि–ग्राह्य हो। इसलिए यह अनुभव भौतिक जगत की वास्तविकता का आधार है, और जगत में ऐसा कुछ भी वास्तविक नहीं हो सकता जो अनुभव में शामिल न हो।

हम यह सोचने के आदी हैं कि अनुभव सत्ता से सीमित है, और सत्ता वह है जो अनुभव को सीमित करती है (अनुभव का निर्धारण करती है)। लेकिन यदि अनुभव सीमित होता, तो क्या वह जो इसे सीमित करती है, कभी जानी जाती? सत्ता ज्ञात है। इसे अनुभव को सीमित करने वाला कैसे कहा जा सकता है? इसके अलावा, हम इसकी सीमा को सीमा की अवधारणा करने में ही पार कर जाते हैं। क्योंकि यदि अनुभव वास्तव में

(सत्ता द्वारा) सीमित होता, तो (उसकी) सीमा के बारे में (हमारी) कोई चेतना नहीं होती; और जहां चेतना नहीं है, वहां सीमा का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अनुभव उस व्यापक समग्रता, जिसे हम सत्ता कहते हैं, का मात्र एक अंश नहीं है। यह सत्ता के संबंध में एक ऐसी स्थिति रखता है जिसमें सत्ता को समग्रता में समझा जाता है, और इसकी वास्तविकता केवल इसी रूप में समझे जाने में है। जो (किसी समग्र का) एक अंश मात्र होता है वह समग्र के दूसरे भाग को नहीं जान सकता। अनुभव सत्ता का ज्ञान ही है। यह सत्ता का हिस्सा नहीं हो सकता, या यह किसी अन्य समग्र का भाग भी नहीं है जिसमें दोनों (अनुभव और सत्ता) शामिल हों। अनुभव से अधिक व्यापक कोई समग्र नहीं हो सकता।

सत्ता को अनुभव से स्वतंत्र मानने वाले दृष्टि की मौलिक त्रुटि उसके द्वारा सत्ता और आत्मा के बीच संबंध को उचित ढंग से न पहचानना है। मैं, स्वयं, वास्तविक चीजों में से कोई चीज मात्र नहीं हूँ, न ही मुझ पर इन चीजों का प्रभाव उन अनेक कार्यों में से एक है जिन्हें वे आपस में संपादित करती हैं। सभी क्रियाएं मुझमें महत्वपूर्ण हैं, और मुझसे बाहर कुछ भी नहीं है जो मुझे प्रभावित कर सके। मुझे कुछ भी बाहर नहीं कर सकता, मुझसे बाहर कुछ भी नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी चीज मेरे प्रति उस भावना का निरादर नहीं कर सकती जिसके कारण से ही वह वह है जो वह है। मैं वास्तविक समग्र हूँ; क्योंकि प्रत्येक चीज मेरे अनुभव में ही वास्तविक है।

## अध्याय 4 : निजरूप में सत्ता

सत्ता सभी अनुभवों से स्वतंत्र नहीं हो सकती। लेकिन एक ऐसा अर्थ है जिसमें इसे निजस्वरूप में (स्वतंत्र रूप से स्वयं में) कुछ होना चाहिए। इसे अपने अस्तित्व के लिए अपने से बाहर किसी अन्य चीज पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। अब हमें जिस प्रश्न पर विचार करना चाहिए वह यह है कि किन चीजों को विद्यमान (अस्तित्ववान) कहा जा सकता है?

सबसे पहले इंद्रिय–बोध की वस्तुएं हैं। उनकी प्रकृति ऐसी है कि वे केवल वास्तविक अनुभूति में ही उपलब्ध होती हैं। लेकिन उनका (अनुभूत वस्तुओं का) आधार उनमें (स्वयं में) नहीं है। इस प्रकार दृश्य वस्तुओं की उपलब्धि दृष्टि में होती है जो किसी अनुभावक व्यक्ति का एक कार्य है।

ध्वनियों का अपना आधार श्रवण होता है जो कि ऐसा ही एक अन्य कार्य है, इत्यादि। इसलिए अनुभव की ये वस्तुएं अपने आप में वास्तविक नहीं हैं। उनकी वास्तविकता का आधार उसमें निहित है जो उन्हें जानता है, अर्थात् विषयी में।

निश्चित रूप से सत्ता (अपनी निजता में) इंद्रिय अनुभव में प्राप्त वस्तु नहीं हो सकती। लेकिन अनुभव पर इसकी निर्भरता को स्वीकार करने से बचना तब तक व्यर्थ है जब तक हम इसे इंद्रियों द्वारा अनुभव की जाने वाली वस्तुओं के जगत से बाहर न रखें। इस (इंद्रियानुभूत जगत) में इसे शामिल करने से बचने का एकमात्र तरीका यह है कि इसकी ऐसे रूप मे कल्पना की जाए ताकि इसके ज्ञान में इंद्रियों या इंद्रियों जैसे अन्य ज्ञान के उपकरणों की आवश्यकता न हो। केवल इसी प्रकार से यह सिद्ध किया जा सकता है कि सत्ता के अस्तित्व का आधार इसके निज में है (इससे बाहर नहीं)।

आत्मा ही केवल ऐसी चीज है जो कभी भी इंद्रियग्राह्य न होते हुये भी अपने स्वरूप में जानी जाती है। सामान्य बोलचाल की भाषा में हम अवश्य आत्मा के बोध की बात करते हैं, जैसे मानो आत्मा कुछ हो और उसका बोध कुछ भिन्न। यदि ये दोनों बातें किसी भी रूप में भिन्न होतीं, तो यह कहना सही नहीं होता कि आत्म–ज्ञान की इंद्रियजन्य ज्ञान से तुलना नहीं की जा सकती। हालाँकि यह स्पष्ट है कि यदि आत्मा और उसका बोध भिन्न होते, तो यह कम–से–कम (अपने बोध से भिन्न रूप में) विचारणीय अवश्य होती। लेकिन इस तरह से प्रस्तुत (विचार में आने वाली) वस्तु को हम भूल से भी आत्मा नहीं कह सकते। सच्चा आत्म–बोध चेतना से इतर किसी वस्तु से सम्बन्धित नहीं होता। जितना ही हम इससे (बोध से) बाहर जाना चाहते हैं उतना ही हम अपने से कम पास में होते हैं। चेतना स्वयं ही आत्मा है। निस्संदेह वस्तुओं की चेतना के बारे में बात करते समय हम चेतना का चेतन से भेद करते हैं। लेकिन तब हमारे पास जिसे हम 'चेतन' कहते हैं उसकी सत्ता में विश्वास करने का क्या प्रातिभ आधार होता है? वास्तव में, यह वही चेतना है जिसके द्वारा हम उन वस्तुओं के प्रति जागरूक होते हैं जो हमारे अपने अस्तित्व के अंतरतम अन्तर्ज्ञान का निर्माण करती है। इसका इससे विशिष्ट और पृथक अन्तर्ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई अन्तर्ज्ञान केवल किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता का होगा; और हम अचेतन और प्रायः यांत्रिक

रूप से अपनी आत्मा का वस्तुनिष्ठ सत्ता से भेद करते हैं। हमारी आत्मा को ही अपने अस्तित्व के उस आदर्श स्वरूप का साक्षात्कार होता है जिसका अस्तित्व के ज्ञान के साथ तादात्म्य है। यही निजता में सत्ता है।

हम अभी तक यह मानकर चल रहे थे कि प्रत्यक्ष की कोई वस्तु प्रत्यक्ष से स्वतंत्र नहीं है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि इन वस्तुओं का एक ऐसा पहलू है जिसमें उनके तत्त्व इतने परतंत्र नहीं हैं। इसलिए अब हम इस तत्त्व की प्रकृति पर विचार करने के लिए अग्रसर होंगे। हमें इस तत्त्व के कम–से–कम देश में विस्तृत होने के गुण को अवश्य मानना चाहिए। वस्तुओं का कुछ प्रसार और आकार अवश्य होना चाहिए। और यह कल्पना करना मुश्किल है कि जिस वस्तु का देश में प्रसार है उसमें उन गुणों का अभाव है जिनका अनेक इंद्रियों से ज्ञान होता है, जैसे यह बिना रूप और स्वाद इत्यादि के है। अब प्रश्न उठता है कि क्या इन वस्तुओं में हम ऐसे गुणों की कल्पना कर सकते हैं जो इंद्रियों द्वारा अग्राह्य हैं और कहा जा सके कि इनका सम्पूर्ण निर्धारण वस्तु की निजता में होता है?

हम यह सोचने के अभ्यस्त हैं कि किसी वस्तु को पहले देखा जाता है और फिर अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना की जाती है, कि उसकी प्रकृति में कोई आवश्यक संबंध शामिल नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक कागज की सफेदी को हम साक्षात् देख लेते हैं, और फिर तुलनात्मक रूप से, उसकी सफेदी की सघनता (डिग्री) निर्धारित करने के लिए आगे बढ़ते हैं। परंतु यह सत्यता से बहुत दूर है। हम प्रायः तेजी से सोचते हैं, और अपनी त्वरित सोच की प्रक्रिया के विश्लेषण करने की कठिनाई की व्याख्या पूरी तरह से विचार की अनुपस्थिति के रूप में करते हैं। हम किसी भी चीज को अव्यवहित रूप से कभी वैसा नहीं जान पाते जैसा उसे माना जाता है। (किसी चीज को) जानना (उसे बाकी चीजों से) अलग करना और संबंधित करना है। जानने की इस प्रक्रिया में कोई दशा ऐसी नहीं है जहां यह कहा जा सके कि हम शून्य से शुरुआत करते हैं, और हमारा ज्ञान संबंध बनाने की वैचारिक गतिविधि से अछूता है। "प्रथम और मौलिक" धारणा के बारे में बात करना एक कहावत (जुमला) मात्र है, न कि किसी तथ्य का कथन। हम कभी भी अपने ज्ञान के विश्लेषण को उस बिंदु तक नहीं ले जा सकते हैं जहां हम कदाचित् यह कह सकें कि हमने किसी "अविभेदित और असंबद्ध विषय" को जाना (अर्थात् विषय का निर्विकल्पक ज्ञान हुआ)।

एक भौतिक वस्तु केवल पूर्व में संकेत किए गए विषय को धारण कर सकती है और जो दृश्य बनने की क्षमता से युक्त है। यह विषय अपनी प्रकृति में संबद्ध है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका निर्धारण इसकी निजता में होता है। इसका अपने आप में कोई आकार नहीं है। संबद्धता इसका सार है। हम भौतिक वस्तुओं में जिन भी विषयों का आरोपण कर सकते हैं इसका निर्धारण केवल उन्हीं विषयों के संबंध में हो सकता है जो इससे भिन्न एवं परे हैं। इसका आधार यह स्वयं नहीं हो सकती और इस प्रकार इसका अपने आप में अस्तित्व नहीं हो सकता।

एक अर्थ में सम्बद्ध विषयों के अस्तित्व का आधार वह होता है जिससे यह सम्बन्धित है। लेकिन यदि इस प्रक्रिया को पीछे करते जाएं तो सत्ता का कोई भी आधार नहीं मिलेगा। उदाहरण के लिए यदि 'अ' अपने अस्तित्व के लिए 'ब' पर निर्भर है और 'ब' अपने अस्तित्व के लिए इसके बदले 'अ' पर निर्भर है और इनमें से कोई आत्मनिर्भर नहीं है, तो उस संबंध, जिसके द्वारा अ और ब एक–दूसरे को विशिष्ट वस्तुओं के रूप में निर्धारित करते हैं, की प्राप्ति असंभव हो जाती है, और संबंधित विषयों को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्हें प्राप्त करने की संभावना इस तथ्य में निहित है कि ब का आधार अ नहीं है, न ही अ का आधार ब, क्योंकि इनमें से कोई भी आत्म–निर्भर नहीं है। दोनों का आधार उसमें है जो संबंध को धारण करता है, और इसलिए स्वयं सम्बन्धित नहीं है। यह असंबद्ध आधार भौतिक जगत का भाग नहीं हो सकता, क्योंकि हमने देखा है कि इस जगत का हिस्सा वास्तव में कोई असम्बन्धित (सम्बन्धरहित) चीज नहीं हो सकती। यह अबौद्धिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि सह–अस्तित्व की चेतना के बिना कोई वास्तविक संबंध नहीं हो सकता। एकमात्र सत्ता जो इन शर्तों को संतुष्ट करती है वह है आत्मा। यह प्रत्येक वास्तविक संबंध में शामिल है, फिर भी स्वयं सम्बन्धित नहीं है। यदि यह सम्बन्धित होती, तो इस संबंध के बारे में कदाचित् कौन ज्ञान रखता? आत्मा ही समस्त सम्बन्धों के बारे में चेतन है, इसलिए यह उनसे परे है। यह एकमात्र वास्तविकता है जो आत्म–निर्भर है और इसलिए इसका वास्तविक अस्तित्व है। – क्रमशः –

**दर्शनशास्त्र विभाग**
**डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय**
**सागर (म.प्र.) 470003**

पुस्तक - समीक्षा

# बौद्ध प्रमाणव्यवस्था का मानकीकरण*

**जयंत उपाध्याय**

समीक्ष्यमाण 'बौद्ध प्रमाणमीमांसा' नामधेय यह ग्रन्थ पूर्वपीठिका तथा उपसंहार सहित दस अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड में ईसापूर्व छठी शताब्दी से वर्तमान कालखंड (2600 वर्षों) का प्रमाणशास्त्रीय एवं तर्कशास्त्रीय विवेचन है। समस्त विवेचन समीक्षा की दृष्टि से प्रेरणादायी परिवेश में स्पंदित करता है। ग्रन्थ की पूर्वपीठिका में ग्रंथकार प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने स्पष्ट किया है कि दार्शनिक सम्प्रदायों में स्वीकृत प्रमाण अपनी अवधारणात्मक योजना में एक विशिष्ट तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से संरक्षित और निर्देशित होते हैं तथा प्रायः सभी दर्शन इस बात को सर्वतन्त्र स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से 'प्रमाण' प्रथम और 'प्रमेय' तदनन्तर तथा सत्ता की दृष्टि से 'प्रमेय' प्रथम और 'प्रमाण' तदनन्तरभावी होते हैं। वस्तुतः प्रमाण–प्रमेय के पूर्वापर भाव का निर्धारण अत्यंत जटिल प्रश्न है। यह एक ऐसा दार्शनिक प्रश्न है जो किसी भी प्रमाणमीमांसा और विशेषकर बौद्ध प्रमाणमीमांसा की आधारभूत समझ के लिए प्रासंगिक है। प्रो. शर्मा ने अपने विश्लेषणात्मक विवरण में भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणविषयक अनेक विवादों को उद्धरित कर प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थता, प्रमाणों के सम्बन्ध में विवादरहितता पर परिप्रश्न किया है और ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सर्वथा निर्दुष्ट मानदण्ड अथवा उनका कोई सर्वस्वीकृत आदर्श स्वरूप स्वीकार करने की दार्शनिक पहल की आंतरिक इच्छा को अभिव्यक्त किया है।

**उन्मीलन – वर्ष 38, अंक 1, जनवरी–जून 2024**
**ISSN-0974-0053**
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

* बौद्धप्रमाणमीमांसा, अम्बिकादत्त शर्मा, ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, नवरंगपुरा, अहमदाबाद, 2019, मूल्य : 325

ग्रन्थ का प्रथम खण्ड 'बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों की रूपरेखा' है। इस खंड में प्रो. शर्मा ने बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों की रूपरेखा को दार्शनिक सिद्धांतों की तारतम्यता में प्रस्तुत किया है। हीनयानी परम्परा का दार्शनिक विकास, महायान परम्परा का दार्शनिक विकास, शून्यवादी परंपरा तथा योगाचार दर्शन के ग्रंथों में प्रतिध्वनित दार्शनिक दृष्टि इस अध्याय के विवेच्य हैं। ग्रंथकार का मंतव्य है कि बौद्धदर्शन ने अपने ऐतिहासिक विकास में कई मूलगामी दार्शनिक प्रवृत्तियों (यथार्थवादी, प्रत्ययवादी एवं अद्वयवादी) को अवाप्त किया है। किसी भी विचार–परम्परा के विकास की एक स्वकीय धारा होती है, बौद्ध समूह के दर्शनों के विकास की भी एक स्वकीय निष्ठा है। इस सौगत निष्ठा को यदि कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे ''नैरात्म्यवादी निष्ठा'' कहना ही अधिक उचित होगा। बौद्ध दर्शन के समस्त प्रस्थान वास्तव में शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमाप्रतिपद् के द्वारा उच्च से उच्चतर स्तर पर नैरात्म्यवाद को ही प्रतिष्ठापित करते हैं। प्रो. शर्मा यह स्पष्ट करते हैं कि यह नैरात्म्यवाद केवल सैद्धान्तिक उपक्रम नहीं, बल्कि एक जीवन–दर्शन भी है। यह केवल सिद्धान्त नहीं वरन् निदान भी है। बौद्ध दर्शनों की निदानपरकता को ''पटिसोतगामी'' जीवन–दर्शन से अभिहित किया जा सकता है। ग्रंथकार का अभिप्राय है कि मनुष्य की चेतना जब प्राकृतिक आग्रहों एवं जैव बुभुक्षाओं से ऊपर उठती है, तभी स्वयं के अस्तित्व, अर्थ और गंतव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है, अन्यथा वह राग–द्वेष और मोह में उलझे होने को ही अपने होने का सत्य समझ रही होती है। इस जैववासना का अतिक्रमण किये बिना मानवीय परिस्थिति के नैतिकीकरण की कोई आत्मचेतन योजना (अप्पदीपो भव) हो ही नहीं सकती।

बौद्ध दर्शन की विकास यात्रा को प्रो. शर्मा ने एकरेखीय नहीं बल्कि वक्रीय मार्गों से परिगामित बहुरेखीय कहा है। इसके अतिरिक्त उसे बौद्ध दर्शन कहा जाना इसलिए सार्थक है कि सभी बुद्ध वचनों के तात्पर्य को ही अपने–अपने युक्तिपरक विधियों से उद्घाटित करते हैं। यही कारण है कि सैद्धान्तिक व्याख्याओं की विभ्रमकारी बहुलता में भी बौद्ध दर्शनों के सम्प्रदाय केन्द्रित विकास में आधारभूत एकता के सूत्र परिलक्षित होते रहे हैं। अनेक सैद्धान्तिक विचलनों के बावजूद किसी भी बौद्ध सम्प्रदाय ने क्षणिक पर्यायों की सत्ता के अलावा उन पर्यायों के पृष्ठ में किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार

नहीं किया जो उन्हें एक सूत्र में बाँधती हो। बौद्ध दर्शन के विकास में नैरात्म्यवाद की यह आधारभूत एकता कुछ प्रमुख सिद्धान्तों में अनूदित हुई है और वह समस्त बौद्ध चिन्तन में परिलक्षित होती है। ऐसे तीन विचारों को अलग किया जा सकता है जो नैरात्म्यवादी बौद्ध दर्शन की कुंजी हैं– शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमाप्रतिपद्। प्रत्येक बौद्धमत शून्यता सिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त और मध्यमाप्रतिपद् से युक्त होने का दावा करता है और इन तीनों सिद्धान्तों के द्वारा नैरात्म्यवाद को ही पुष्ट करता है। बौद्ध दर्शन के विकास क्रम में जब शुद्ध नैतिक रुचि की अपेक्षा तत्त्वशास्त्रीय रुचि प्रबल हो जाती है, तो यह 'नियम' और व्यापक होकर कारणता का सार्वभौम नियम बन जाता है। इस प्रकार बौद्ध समूह के दर्शनों में अभिधेय है कि किस प्रकार सभी बौद्ध–व्यवस्थाएँ मानवीय चेतना की प्राकृतिक अभिमुखता अथवा उसके स्वाभाविक रुझान के प्रतिपक्ष में खड़ी की गई है। मानवीय चेतना को इस प्रतिपक्ष में खड़ा होने के लिए तैयार करना ही पटिसोतगामी बौद्ध योजना का उद्देश्य है, जो मनुष्य को नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है।

ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड 'प्रमेयाश्रित प्रमाणसिद्धि' है। इस खण्ड में प्रो. शर्मा ने भारतीय दर्शन के इतिहास में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' को प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित दो आधारभूत प्रश्नों के रूप में स्वीकार कर इसकी ज्ञानमीमांसीय तथा सत्तामीमांसीय विवेचना किया है। वस्तुतः ये दोनों प्रश्न अपनी प्रकृति में प्रस्थानमूलक हैं जो भारतीय दर्शन की दो भिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचना को प्रस्तावित करते हैं। दोनों प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाएँ अपने मूल में तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांमासा के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए प्रमाणों की प्रस्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रो. शर्मा का उद्देश्य 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' के निर्धारक पूर्वाग्रहों एवं निष्पत्तियों को विश्लेषित करते हुए यह दिखाना है कि प्रमाणों का समुचित कार्य क्या है? क्या प्रमाणों की भूमिका अन्वेषणात्मक है अथवा प्रमाण केवल पूर्वगृहीत तत्त्वमीमांसा का बौद्धिक निदर्शन कराते हैं? ग्रंथकार घोषणा करते हैं कि प्रत्येक प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उसी पृष्ठभूमि से आरम्भ होता है और अन्ततः उसी में उसकी प्रतिपूर्ति होती है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन का

एक बहुत बड़ा भाग प्रमाणमीमांसीय चिन्तन से सम्बद्ध है। इस खंड में न्याय दर्शन तथा बौद्ध दर्शन के मध्य विवादों को केंद्रीयकृत कर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के आलोक में उनकी प्रमाणमीमांसा का सुस्पष्ट एवं सुसंगत विवेचन किया गया है। 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के समर्थक दार्शनिक सत्ता की अज्ञात अवस्था को स्वीकार करते हैं। यह उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा के लिए आवश्यक भी है। सत्ता की अज्ञात अवस्था, अर्थात् जब वह प्रमाणों की विषय न बनी हो, तब उसे एक अविभेदित स्थिति रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अवस्था में वह सत्तावान् भले ही हो लेकिन उसका अन्यों से भेद प्रतिपादित नहीं रहता है। दूसरी ओर हम चित्त की एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जो विषयाभिमुख होते हुए भी किसी वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त न हो। न्याय–वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा आदि वस्तुवादी दर्शनों की एक प्रमुख मान्यता यह है कि ज्ञान सदैव सविषयक होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञान संपूर्ण रूप से विषय की अवस्थिति पर निर्भर करता है। कम से कम एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ में तो ज्ञान को विषय से स्वतन्त्र कहा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि बहुत से मतभेदों के अतिरिक्त बौद्धेतर दर्शनों में ज्ञान को आत्मा या चित्त की एक क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। किसी वस्तु का ज्ञान आत्मा या चेतना में जानने की स्वतन्त्र इच्छा रूप व्यवसाय का ही फल है। नैयायिकों ने ज्ञानारम्भ का हेतु सन्देह और इच्छा को स्वीकार किया है। इनके अभिमत में ज्ञान की प्रक्रिया क्षणिक नहीं है। यह सत्ता से सम्बद्ध और उसमें प्रवृत्त होकर ही पूर्ण होती है। अतएव ज्ञान अपने प्रारम्भन में विषय से तो स्वतन्त्र है लेकिन इसकी पूर्णता अन्ततः विषयाश्रित ही होती है। प्रो. शर्मा ने 'मानाधीनामेयसिद्धिः' की उपर्युक्त निष्पत्तियों समीक्षा से यह स्पष्ट करते हैं कि जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है वह विषय से स्वतन्त्र होता है। प्रदत्त विषय की निजरूपता को ज्ञान सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित भी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणमीमांसा का कार्य तटस्थ निरूपण और विश्लेषण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'प्रमेयसिद्धि' में प्रमाणों की भूमिका को किसी वस्तु को खोज निकालने के अर्थ में अन्वेषणात्मक समझना एक भूल है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु को हम इस रूप में जानते हैं इसलिए वस्तु ऐसी है और वस्तुविषयक हमारा ज्ञान उसे उस रूप से

निरूपित करता है। वास्तव में कहना तो यह चाहिए कि वस्तु ही ऐसी है, इसीलिए तद्विषयक हमारा ज्ञान ऐसा है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के विपरीत 'मेयाधीनमानसिद्धिः' का दार्शनिक परामर्श बौद्ध नैयायिकों ने प्रस्तावित की है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध दर्शन में उक्तविषयक एक अंतर्द्वन्द्व से युक्त स्थिति प्राप्त होती है। विग्रहव्यावर्तनी एवं वैदल्यसूत्रम् में नागार्जुन ने 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के सम्भव विकल्पों का बलवतर खण्डन किया है। उन्होंने अपने खण्डन में अन्य विकल्पों को उद्भावित करते हुए 'मेयाधीनामानसिद्धिः' को भी चतुष्कोटिक न्याय का ग्रास बना दिया। विज्ञप्तिमात्रतावादी वसुबन्धु 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के सिद्धान्त से आपाततः प्रभावित प्रतीत होते हैं। वसुबन्धु को आगम प्रमाण स्वीकार्य है। यदि प्रमाणमूलक प्रमेयसिद्धि के स्थान पर प्रमेयमूलक प्रमाणसिद्धि का पक्ष उन्हें स्वीकार्य होता तो विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए आगम को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं होती। विज्ञप्तिमात्रता को प्रमाण के बिना भी स्वतः सिद्ध माना जा सकता था। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रंथों में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' जैसा कोई स्पष्ट कथन नहीं मिलता है फिर भी 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' जैसे कथनों से 'मेयाधीनामानसिद्धिः' की प्रतिस्वीकृति ही द्योतित होती है। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार अभिमत पदार्थ की सिद्धि के लिए प्रेक्षावान् व्यक्ति प्रमाणों का अन्वेषण करते हैं। बौद्ध प्रमाणमीमांसा का आरम्भ ही इस प्रश्न से होता है कि हमारे ज्ञान की वह कौन सी अवस्थाएँ हैं, उनके कौन–कौन से प्रकार हैं, उनकी क्या–क्या विशेषताएँ हैं, जिनमें हम अपनी प्रमेयपृक्षा को व्यवस्थित कर सकते हैं? यदि अनात्मवाद और क्षणभंगवाद के परिप्रेक्ष्य में इस समस्या पर विचार किया जाय तो 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का पक्ष ही सम्पूर्ण बौद्धदर्शन के लिए उपादेय प्रतीत होता है। प्रमाणों के द्वारा प्रमेयसिद्धि को स्वीकार करते हुए अनात्मवाद का पुरस्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रमाणों के पूर्वाधार रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता हो सकती है। इस सम्भावित अन्तर्विरोध के कारण अनात्मवाद का त्याग अथवा प्रामाण्य ज्ञान की अस्वीकृति में से कोई एक ही विकल्प स्वीकार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के अभिगम को अग्रसारित करने पर उसका पर्यवसान एक आत्मतत्त्व की स्वीकृति में होता है जो

समस्त प्रमाण–प्रमेय व्यवहार का पूर्वाधार और स्वयंसिद्ध है। प्रो. शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अन्ततः प्रमाणों का स्वरूप निर्धारण एवं उनका विनियोग भी उसी रूप में करते हैं जैसी प्रमेय विषयक 'मानाधीनामेयसिद्धिः' की कठिनाइयों से सावधान करने वाली नागार्जुन की विस्थापक युक्तियाँ थीं। इसी कारण तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा का विकास सम्भव हो सका। भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बौद्ध नैयायिकों की इस उद्‌भावना को एक क्रांतिकारी संशोधनात्मक पहल के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

ग्रन्थ का तृतीय खण्ड 'प्रमाण–द्वैविध्य' है। इस अध्याय का विवेच्य विषय बौद्ध नैयायिकों द्वारा बौद्धेत्तर नैयायिकों को पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित कर उत्तरपक्ष के माध्यम से प्रमाणशास्त्रीय चिंतन को विकसित करने में ग्रन्थों तथा आचार्यों की भूमिका को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में दो ही प्रमेय क्यों हैं? इसे स्पष्ट किया और उनके टीकाकारों ने (विशेषतया आचार्य प्रज्ञाकर ने) इसकी विशद् विवेचना की। विषय द्वैविध्य के कारण ज्ञान या प्रमाण दो हैं। इस कथन के द्वारा धर्मकीर्ति प्रमाण की संख्या से सम्बद्ध विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं, अविसंवादी और अज्ञातार्थ का प्रकाशक ज्ञान द्विविध ही है, इसका निश्चय कैसे हो? धर्मकीर्ति का उत्तर है, क्योंकि विषय दो प्रकार का है। चूँकि इससे अतिरिक्त और किसी प्रकार के मेय नहीं हैं, अतः प्रमाण भी दो हैं। चूँकि प्रमेय का यथार्थ ग्रहण ही प्रमाण है अर्थात् प्रमेय का अन्यथाग्रहण नहीं होना ही ज्ञान का प्रामाण्य है और प्रमेय के बिना प्रमाण का अव्यभिचार नहीं होता; अतएव मेयानुसार ही प्रमाण की भी संख्या होती है। इस प्रकार दिङ्नाग और इनके अनुयायी मेय और मान दोनों में ही व्यवस्था और असांकर्य की बात स्वीकार करते हैं। मेय दो ही क्यों हैं, इसकी सिद्धि और असिद्धि पर समस्त बौद्ध प्रमाण–व्यवस्था ठहरी हुई है। बौद्ध इसकी सिद्धि के लिए जितना आग्रह दर्शाते हैं, अन्य दार्शनिक मत इसके खण्डन में उसी तरह चेष्टारत हैं। उदाहरणार्थ, विरोधी यह कहते हैं कि विषय के द्वैविध्य की सिद्धि कैसे है? न तो प्रत्यक्ष और न तो अनुमान से ही विषय के द्वैविध्य की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय 'स्वलक्षण' है और अनुमान का विषय 'सामान्यलक्षण' है। प्रत्यक्ष अपने विषय 'स्वलक्षण' को तथा अनुमान अपने विषय 'सामान्यलक्षण' को तो सिद्ध कर सकता है, परन्तु

प्रमाण के विषय का द्वैविध्य किस प्रमाण से सिद्ध होगा? प्रत्यक्ष भी एक ही विषय को और अनुमान भी एक ही विषय को, अपने विषय के रूप में सिद्ध कर सकता है। इनमें से कोई भी विषय–द्वैविध्य को सिद्ध नहीं करता। ऐसी स्थिति में विषय–द्वैविध्य कैसे सिद्ध हुआ? यदि कोई बौद्ध ऐसा कहे कि प्रत्यक्ष से भी दोनों प्रमेयों की और अनुमान से भी दोनों प्रमेयों की सिद्धि होती है, तो, यह प्रश्न उठता है कि प्रमाणव्यवस्थावादी और प्रमाण–असांकर्यवादी होने से आप बौद्ध प्रत्यक्ष का विषय सामान्य को नहीं मानते। अतएव, ऐसी स्थिति में साध्यसाधनसम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण अनुमान ही नहीं होगा और तब प्रमाण केवल प्रत्यक्षमात्र रह जायेगा तथा 'प्रमाण दो हैं' यह पक्ष खण्डित हो जायगा। यदि बौद्ध यह कहें कि सामान्य प्रत्यक्ष का विषय है तब तो, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही विषय–द्वैविध्य की सिद्धि हो जायेगी। प्रत्यक्ष विषय का ग्रहणमात्र करता है और ग्रहणक्षण के बाद नष्ट हो जाता है, वह विषय का निश्चय नहीं करता। विषय का निश्चय तो तत्पृष्ठभावी विकल्प या कल्पना के द्वारा होता है। प्रथम क्षण में प्रत्यक्ष विषय या अर्थ का ग्रहण कर नष्ट हो गया, किन्तु, उसके अपने सामर्थ्य से तत्पृष्ठभावी अव्यवहित क्षण में विकल्प का उदय होता है, जो 'इदंरूप' से अर्थ का निश्चय कराता है। अतः बौद्ध व्यवस्था में प्रत्यक्ष दो कहे जा सकते हैं–एक तो मात्र प्रत्यक्ष और एक प्रत्यक्षप्रमाण। जो प्रत्यक्ष ग्रहणमात्र करता है, अपने बल से उत्पन्न विकल्प के द्वारा अर्थ का निश्चय नहीं होता, वह प्रत्यक्ष तो है किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण वही है जो कि अर्थ का ग्रहण करता है और जिसके अपने सामर्थ्य से द्वितीय अव्यवहित क्षण में विकल्प का उदय होता है, जो कि 'इदम्' के रूप में अर्थ का निश्चय होता है, क्योंकि वह अर्थ को प्राप्त करा देता है।

प्रो. शर्मा का मानना है कि यदि प्रमाण–निरपेक्ष प्रमेय–द्वैविध्य की समस्या पर और भी मूलगामी दृष्टि से विचार किया जाय तो इसकी व्याख्या बुद्धोपदिष्ट अन्तर्दृष्टि के रूप में भी की जा सकती है। बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षाएँ परमार्थ और संवृत्ति–सत् के भेद पर आधारित हैं। तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद् रूप से प्रकाशित होता है जो सामान्यजन के लिए लब्ध नहीं। बौद्ध नैयायिक भगवान् बुद्ध को परम प्रमाणभूत स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं। अतएव स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप प्रमेय–द्वैविध्य की प्रमाण–निरपेक्ष

प्राक्कल्पना को बुद्धदेशित परमार्थ एवं संवृत्ति नामक सत्य द्वैविध्य की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। परमार्थ एवं संवृत्ति के रूप में स्व–सामान्यलक्षणात्मक प्रमेयद्वैविध्य को इस तरह आगममूलक अथवा प्रकाशित अन्तर्दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं बल्कि लाघव है। यहाँ बुद्ध की भावनामयी प्रज्ञा से प्रसूत करुणामयी देशना का आगम–प्रमाण के रूप में विनियोग करते हुए प्रमाण–त्रैविध्य का विरोध प्रसंग भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ओर इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कोटि में नियोजित करना कोई आवश्यक बाध्यता नहीं है तो दूसरी ओर बौद्ध परम्परा में आगम प्रमाण का अनुप्रयोग परार्थानुमान रूप से अर्थात् हेतुवचन के रूप में हुआ है।

ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड 'कल्पनाऽपोढ प्रत्यक्ष' है। यह खण्ड प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ, प्रत्यक्ष की सामान्य पृष्ठभूमि, प्रत्यक्ष की बौद्धेतर परिभाषाएँ, बौद्धेतर अवधारणाओं में व्याप्त मतवैभिन्नता, प्रत्यक्ष विषयक बौद्धमत की पृष्ठभूमि, अभ्रांत पद की सार्थकता, इंद्रियों का स्वरूप, प्रत्यक्ष के प्रकार तथा स्वरूप विमर्श आदि विषयों की उपादेयता को समर्पित है। प्रत्यक्ष को अत्यंत ही सरल और शुद्ध प्रमाण माना जाता है। इसके विषय में यह धारणा है कि इन्द्रियों के माध्यम से प्रदत्त वस्तु प्रत्यक्षतः उसी रूप में उपलब्ध होती है, जैसी वह होती। परन्तु प्रमाणमीमांसीय विचार–सारणी में प्रत्यक्ष के सरल एवं शुद्ध स्वरूप का निर्धारण उतना सरल नहीं, जितना कि समझा जाता है। ग्रंथकार के अनुसार प्रत्यक्ष विषयक भिन्न–भिन्न अवधारणाओं के बीच यह निश्चित कर पाना कठिन है कि प्रत्यक्ष का कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं। वास्तव में प्रत्यक्ष का होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष किसका और कैसे होता है? बौद्ध दार्शनिक कल्पनारहित और निभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। कल्पना रहित को ही प्रत्यक्ष कहने का कारण यह है कि कल्पना के लिए अर्थ की उपस्थिति अपेक्षित नहीं है, इसका सीधा सा आशय यही है कि प्रत्यक्ष पदार्थ के सान्निध्य में ही हो सकता है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार किसी वस्तु की स्वलक्षणात्मक परिभाषा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सम्बद्ध होती है। जैसे नील और नीलेतर। यदि नील के सम्बन्ध में कुछ कहना अपेक्षित हो तो व्यावृत्ति के नियम का प्रयोग करते हुये यह कहा जा सकता है कि 'नील' वह है जो 'नीलेतर' नहीं है। यही सिद्धान्त

बौद्धदर्शन में 'अपोहवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष की परिभाषा भी बौद्धों के इस सिद्धान्त से प्रभावित है। सभी बौद्ध दार्शनिकों ने व्यावृत्ति के नियम से ही प्रत्यक्ष का विवेचन किया है, किन्तु इस पर भी वे स्पष्टतः दो वर्गों में बँटे हुए प्रतीत होते हैं। एक वर्ग प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग नहीं करता, जबकि दूसरा वर्ग उसका समावेश आवश्यक मानता है। पहले वर्ग के प्रवर्तक आचार्य हैं दिङ्नाग और दूसरे के धर्मकीर्ति। शान्तरक्षित और कमलशील ने दोनों मतों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका झुकाव भी धर्मकीर्ति की ओर अधिक प्रतीत होता है। दिङ्नाग के अनुसार प्रमाण दो ही होते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान और प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना, नाम, जाति आदि से संपृक्त न हो। धर्मकीर्ति, उपर्युक्त परिभाषा में अभ्रान्त शब्द को भी जोड़ते हैं। इस प्रकार धर्मकीर्ति के विचार में प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जो निर्भ्रान्त हो तथा जिसमें नाम, जाति आदि की कल्पना का समावेश न हुआ हो। धर्मोत्तर संभवतः इस बात के प्रति सचेत थे कि 'कल्पनाऽपोढ़' शब्द में ही 'अभ्रान्त' शब्द के अर्थ का भी समावेश हो सकता है, किन्तु वे धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते हैं कि गाड़ी आदि से यात्रा करते हुए लोगों को मार्ग के दोनों ओर पीछे छूटते हुए पेड़ों आदि के चलने या दौड़ने का जो भ्रम होता है, उसका परिहार 'अभ्रान्त' शब्द के प्रयोग के बिना नहीं हो सकता। वैसे वे दिङ्नाग के इस मत को भी उचित समझते हैं कि आनुभविक भ्रमों के सम्बन्ध में कल्पनाऽपोढ़ शब्द ही पर्याप्त है। धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति 'अभ्रान्त' शब्द द्वारा इस बात का संकेत करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष से हमें स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है। असंग के अनुसार अभ्रान्त ज्ञान वह है जो ( 1 ) संज्ञा भ्रान्ति, ( 2 ) संख्या भ्रान्ति ( 3) संस्थान भ्रान्ति ( 4 ) वर्णभ्रान्ति, तथा ( 5 ) कर्म भ्रान्ति से मुक्त हो। इन भ्रान्तियों में चित्त का जो आग्रह है, वह चित्तभ्रान्ति है तथा उन भ्रमपूर्ण विषयों में जो आसक्ति है वह दृष्टि भ्रान्ति है। इन भ्रान्तियों से विरहित तथा नाम, जाति आदि की योजना से नितान्त अस्पृष्ट जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। धर्मोत्तर का मत है कि धर्मकीर्ति व दिङ्नाग द्वारा दी परिभाषाएँ कुछ विशेषताओं (अकल्पनात्मक, अभ्रमात्मक) की बोधक है। प्रत्यक्ष एक ऐसा विज्ञान है जिसके बाद विकल्प आता है, क्योंकि विकल्प किसी विशेष संदर्भ में कल्पनाचित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह भी ज्ञातव्य है कि बौद्धों के चार संप्रदायों में से वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक यथार्थवादी हैं,

तथा योगाचार और माध्यमिक आदर्शवादी हैं। वैभाषिकों की ऐसी मान्यता है कि समस्त संसार प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र है। बिना प्रत्यक्ष के अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि यदि प्रत्यक्ष से उचित सामग्री उपलब्ध न हो तो हम व्याप्ति का बोध भी नहीं कर सकते। सौत्रान्तिक बाह्य संसार की सत्ता को स्वीकार करते हुये भी उसका प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करते। माध्यमिकों का यह मत है कि बाह्य पदार्थ एव आन्तरिक अवस्थाएँ दोनों ही शून्य हैं। यह शाखा चरम विधि और चरम निषेध दोनों के मध्यम मार्ग को स्वीकार करती है। योगाचार में ऐसे आदर्शवाद का विकास होता है जो समस्त यथार्थता को केवल विचार सम्बन्धों के रूप में ही परिणत कर देता है। वे विज्ञान अथवा चेतना के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों की सत्ता का निषेध करते हैं। प्रो. शर्मा ने न्यायवादी बौद्धों के प्रत्यक्ष विचार को स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमीमांसीय निहितार्थों को अपने में समेटे हुए है। यह उनकी तात्त्विक योजना को ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करने वाला ऐसा नाभिक है जहाँ परमार्थसत् स्वलक्षण ज्ञान में अपना आकार अर्पित करता है।

ग्रन्थ का पंचम खण्ड 'अनुमानावतार' है। इस खण्ड की विवेचना में ग्रंथकार ने भारतीय ज्ञानमीमांसा के इतिहास में संदेहवादी पूर्वपक्ष को प्रस्तुत किया है। संदेहवादी आक्षेपों का परिहार, अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि, वस्तुवादी तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से युक्त अनुमान का निरसन तथा बौद्ध सम्मत अनुमान की स्थापना अध्याय की केन्द्रीयता है। भारतीय दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संरचना में अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं है। ग्रंथकार का मानना है कि वैध अनुमान के फलित होने के लिए न्यूनतम तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धों का एक ऐसा ढाँचा आवश्यक है जिसमें हेतु और साध्य के मध्य एक विशेष प्रकार का अनिवार्य एवं सार्वभौम सम्बन्ध स्थापित हो सके। नैयायिकों के मत में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं, जबकि बौद्ध नैयायिकों के मत में सभी सम्बन्ध आन्तरिक एवं विकल्पात्मक अथवा मानसिक संरचना मात्र हैं। बौद्ध नैयायिकों की यह विशिष्टता है कि वे विकल्पात्मक धर्म–धर्मी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान प्रमाण को स्थापित करते हैं। अनुमान के लिए हेतु और साध्य के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे ज्ञात भी होना चाहिए। ऐसे सम्बन्ध की कुछ वर्जनाएँ भी हो सकती हैं। यदि संभव वर्जनाओं से मुक्त दो वस्तुओं या विषयों के मध्य अनिवार्य एवं सार्वभौम

सम्बन्ध की अवधारणा प्रतिपादित हो जाती है तब अनुमान के विनियोग में कोई बाधा नहीं। हेतु और साध्य के मध्य ऐसे ही सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यहाँ विचारणीय है कि दो या दो से अधिक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में व्याप्ति–सम्बन्ध में भेद क्यों होता है? यदि इस प्रश्न को उसके तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाय तो यही फलित होगा कि तत्तद् दर्शनों की तात्त्विक पृष्ठभूमि में भेद होने से उनके प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में सम्बन्ध की अवधारणा भिन्न–भिन्न होती है, एतावता व्याप्ति–स्वरूप की व्याख्या में भेद का परिलक्षित होना स्वाभाविक है।

ग्रंथकार ने न्यायदर्शन और बौद्ध नैयायिकों के मध्य वादों पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत किया है। न्यायदर्शन में सम्बन्धों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं। 'अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्' के निकष पर दो वस्तुओं का सम्बन्ध भी उतना ही यथार्थ होता है जितना कि दोनों सम्बन्धी यथार्थ होते हैं। सम्बन्धों की वस्तुवादी तात्त्विक पृष्ठभूमि में नैयायिक 'व्याप्ति–सम्बन्ध' को सहचार–नियम या अविनाभाव नियम के रूप में अवधारित करते हैं। सहचार–नियम दो वस्तुओं की साथ–साथ उपस्थिति या उपलब्धि है। अविनाभाव नियम से दो वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता का भाव द्योतित होता है। अन्वय–व्यतिरेक–पद्धति से व्याप्ति के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय–व्यतिरेकी नामक त्रिविध प्रकार हो सकते हैं। व्याप्ति–सम्बन्ध के इन प्रकारों के द्वारा हेतु का स्वरूप तथा अनुमान के फलन में हेतु की प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। इन सबके बावजूद व्याप्ति हेतु और साध्य के मध्य घटित होने वाला अनिवार्य सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अपना विस्तार नियम की परिधि पर्यन्त करता है। ऐसे नियम पर्यन्त सम्बन्ध की कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। काल्पनिकता के बदले वस्तुगतता, आत्मनिष्ठता के बदले वस्तुनिष्ठता, सौपाधिकता के बदले अनौपाधिकता और व्यभिचारित्व के बदले अव्यभिचारित्व, आकस्मिकता के बदले अनिवार्यता इसकी मुख्य विशिष्टताएँ हैं। बौद्ध नैयायिकों का तत्त्वमीमांसीय ढाँचा नैयायिकों से बिलकुल भिन्न है। एतदर्थ उभयसम्मत अनुमान–प्रमाण की संरचना एवं व्याप्ति–स्वरूप के निश्चय में आत्यन्तिक भेद परिलक्षित होता है। बौद्ध नैयायिकों की विचार–योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक दो ही विषय हैं। तदनुरूप एवं तद्वशात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाणों को स्वीकार

किया गया है। यदि प्रमेयद्वयपूर्वक ही प्रमाण–इष्ट हो तो तृतीय प्रमाण के लिए अवकाश ही कहाँ है? वस्तुतः बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में सकल निर्विकल्पक ज्ञान–कलापों का प्रत्यक्ष में और निखिल सविकल्पक ज्ञान–कलापों का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है जबकि अनुमान सामान्यलक्षण को अपना विषय बनाता है। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्यलक्षण को संवृत्तिसत् अथवा विकल्प कोटि में रखा गया है। अतः अनुमान की मूलभित्ति स्वलक्षण नहीं बल्कि सामान्यलक्षण है। जैसाकि पूर्व में हमने संकेत किया है कि विकल्पात्मक धर्म–धर्मी सम्बन्ध की परिधि में सामान्यलक्षण को विषय करने वाला अनुमान अपने स्वरूप में पारमार्थिक दृष्टि से 'अयथा अभिनेवेशिनी भ्रांति' है तथापि अविसंवादी होने के कारण ही प्रमाण है। यही कारण है कि बौद्धन्याय में पारमार्थिक–प्रामाण्य और सांवृत्तिक प्रामाण्य में भेद किया गया है। अज्ञातार्थप्रकाशकत्व (प्रत्यक्ष) पारमार्थिक प्रामाण्य का लक्षण और अविसंवादकत्व (अनुमान) सांवृत्तिक प्रामाण्य का लक्षण बनता है। अतएव कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों के अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि बाह्यार्थवादी नहीं है और उनका तर्कशास्त्र मूलभूत रूप में वस्तुओं से नहीं बल्कि सम्प्रत्ययों या विकल्पों से सम्बन्धित है। यह भिन्न है कि विकल्प भी वस्तुपरक ही होते हैं अथवा विकल्पों में ही वस्तुओं की वस्तुता का अवधारणा होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि सम्प्रत्यय या विकल्पों से सम्बन्धित और उसी में अनुप्रयुक्त होते हुए भी बौद्ध न्याय में आकारिकता का समावेश नहीं होता है। विकल्प आकाशकुसुमवत् अलीक नहीं बल्कि स्वलक्षण के सापेक्ष और उसी पर आरोपित होते हैं। बौद्ध नैयायिकों की शब्दावली में, सामान्य लक्षण कुछ नहीं, अध्यवसित, विकल्पीकृत स्वलक्षण ही है। माध्यमिक और दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति द्वारा विकसित न्यायशास्त्रीय समीक्षा के मध्य मूलभूत अन्तर आकारिकता और स्वलक्षण–सापेक्ष विकल्परूपता को लेकर ही है। वस्तुतः देखा जाय तो उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध नैयायिकों का अनुमान एवं व्याप्ति–स्वरूप–निश्चय का संपूर्ण प्रयास व्याप्ति–सम्बन्ध पर आश्रित अनुमिति के प्रागनुभविक कारकों का अन्वेषण है। प्रागनुभविक कारकों से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष–पृष्ठभावी विकल्पों के परस्पर समायोजन एवं संश्लेषण के द्वारा अनुभव–तंत्र की बनावट से है। यही वह सविकल्पक अनुभव है जिसके साथ हम लोकव्यवहार में प्रवृत्त होते हैं।

ग्रन्थ का षष्ठ खण्ड 'प्रमाण—व्यवस्था' है। इस खण्ड में प्रो. शर्मा ने भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास को पाँच प्रस्थानों में विभक्त किया है। प्रथम प्रस्थान महर्षि गौतम का है, जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एक रचनात्मक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रतिपादित करते हैं। नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशिभट्ट—प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। तीनों की शैली वितण्डावादी है, जिनका पर्यवसान प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से प्रमाणों के प्राथमिक महत्त्व के निराकरण व प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। अन्तिम प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग का है, जो संशोधनात्मक रूप में तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के एक पुनर्रचनात्मक ढाँचे को प्रस्तावित करता है। यह अध्याय तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय प्रमाण—व्यवस्था तथा प्रमाण— सम्प्लव को तर्कसंगतता के साथ प्रतिपादित करता है।

एक प्रमेय का प्रत्यक्षादिक एकाधिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञान होने का सिद्धान्त 'प्रमाण—सम्प्लव' कहा जाता है और एक प्रमेय का एक ही प्रमाण द्वारा ज्ञान होने के सिद्धान्त को 'प्रमाण—व्यवस्था' कहा जाता है। न्यायदर्शन में प्रमाण—सम्प्लव एवं प्रमाण—व्यवस्था पर विचार न्याय—भाष्य से ही प्रारम्भ होता है। भाष्यकार का मत है कि कुछ प्रमेय अनेक प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होते हैं (प्रमाण सम्प्लव) और कुछ केवल एक ही प्रमाण द्वारा (प्रमाण सम्प्लव) और कुछ केवल एक ही प्रमाण द्वारा (प्रमाण—व्यवस्था), जैसे आत्मा का ज्ञान तीन पृथक् प्रमाणों से होता है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग प्रमाणों के सम्प्लव एवं व्यवस्था इस द्विविध रूप को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार प्रमाण—सम्प्लव अर्थात् एक ही अर्थ का एकाधिक प्रमाणों से ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण का विषय नियत है। दिङ्नाग को प्रमाण के केवल प्रत्यक्ष और अनुमान यह दो भेद ही स्वीकार्य हैं और उनके अनुसार इन दोनों के विषय भी क्रमशः विशेष एवं सामान्य यह दो ही होते हैं। इनमें विशेष—विषय (स्वलक्षण) को ग्रहण करने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष है और सामान्य—विषय (सामान्य लक्षण) को ग्रहण करने वाला प्रमाण अनुमान है। इन प्रमाणों की एक दूसरे के विषयों में गति सम्भव न होने से प्रमाण सम्प्लव सम्भव नहीं है। अतः प्रमाण—व्यवस्था ही युक्तियुक्त है।

वस्तु के स्वलक्षण से तात्पर्य है उसका अपना रूप जो किसी प्रकार की शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित हो अर्थात् उसके उस स्वरूप का ज्ञान जो

अनुभूत तो किया जा सके किन्तु अभिव्यक्त नहीं। जो देश और काल के अनुगमन के कारण अव्यपदेशा एवं क्षणिकत्व से युक्त अर्थ–क्रियाकारित्व से युक्त वस्तु का अपना लक्षण है। उसे ही स्वलक्षण कहा जाता है। 'देशकालननुगतं विचारसहमित्यर्थः' कहकर परिशुद्धिकार उदयन भी स्वलक्षण का यही स्वरूप व्यस्थित करते हैं, क्योंकि जब व्यक्ति किसी भी ज्ञान को अभिव्यक्त करने लगता है तो उस ज्ञान के विषय में उसके नाम, जाति आदि का प्रयोग करता है। ये जातिनामादि कल्पनाजन्य हैं। परमार्थ सत् नहीं। अतः कम्बुग्रीवादि से अतिरिक्त घट का स्वलक्षण नहीं है, जो प्रत्यक्ष का विषय होगा। इस स्वलक्षण विषयता का अनुमान में अभाव होता है, क्योंकि व्याप्ति वस्तु के सामान्य को ही विषय करती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों के विषयों में भिन्नता के कारण एक की दूसरे के विषय में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य व्यावृत्ति रूप सामान्य सर्वसामर्थ्य से रहित होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता और न तो प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत स्वलक्षण ही अनुमान का विषय हो सकता है; क्योंकि व्याप्ति–गृहीत लिंग से अनुमान होता है वहाँ तादात्म्य एवं कार्यकारणभाव की सत्ता होती है। स्वलक्षण में इस कार्यकारणभाव एवं तादात्म्यादि का अभाव होने के कारण व्यक्ति का भी अभाव है। अतः स्वलक्षण रूप प्रत्यक्ष का विषय अनुमान का विषय नहीं हो सकता। इन दोनों से अतिरिक्त प्रमेय है ही नहीं जहाँ इन प्रमाणों का सम्प्लव होगा। अतः नैयायिकों द्वारा मान्य सम्प्लव व्यवस्था युक्तियुक्त नहीं हैं। प्रमाण विशेष विषयक ही है, स्वविशेष विषय से अतिरिक्त में उनकी गति सम्भव नहीं है। दिङ्नाग के पक्ष से कहा जा सकता है कि नैयायिकादि वस्तुवादियों ने तर्क में अनाधिकार चेष्टा की है। उन्होंनें गलत परिभाषाएँ दी हैं। हम तो केवल उन्हें ही शुद्ध कर रहे हैं। वस्तुतः महर्षि गौतम और उनका अनुगमन करने वालों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका की बहुविध आलोचना से यह स्पष्ट हो गया था कि कोई भी रचनात्मक प्रमाणमीमांसा तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रमाणमीमांसीय गतिविधि एक आश्रित क्रिया है जिसकी उपादेयता स्वमत या स्वगोत्र के अनुरूप तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के विवेचन या निदर्शन मात्र में निहित होती है। ग्रंथकार का अभिमत है कि प्रमाण–सम्प्लव और प्रमाण–व्यवस्था के तत्त्वमीमांसीय उत्स को एक–दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय, जिनमें सत्ता

की मीमांसा द्विविध स्तरों पर की जाती है, उन्हें किसी न किसी रूप में अनुभवपूर्व अविद्या की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करना पड़ता है। यथा– बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों ने पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप में सत्ता का द्वैधीकरण अपने–अपने ढंग से किया। द्वैधीकृत सत्ता की तत्त्वमीमांसीय प्रकृति में भेद होते हुए भी तत्तद् दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में उसे समायोजित करने के लिए प्रमाणों का स्तरीकरण आवश्यक हो जाता। वास्तव में प्रमाण–व्यवस्था सत्ता के द्वैधीकरण को प्रमाणों के स्तरीकरण में दिखाने का ही प्रमाणमीमांसीय प्रयास। वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में अविद्या या विकल्प की प्रागनुभविक सक्रिय भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता है। नैयायिकों और मीमांसकों की दृष्टि में कुछ भी काल्पनिक रूप से संरचित नहीं। यही कारण है कि वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम और विभ्रमों को व्याख्यायित करने के लिए अन्यथाख्याति, अख्याति और विपरीतख्याति जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस रूप में प्रमाण–सम्प्लव उनके लिए एक सहायक सिद्धान्त बन जाता है।

ग्रंथकार की स्वीकृति है कि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने तत्त्वमीमांसीय संरक्षण में ही विकसित और पल्लवित होती है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा की अनुमत सीमा में उठने वाले अधिकांश प्रश्न अन्ततः तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उद्घाटित करते हैं। प्रमाण–सम्प्लव और प्रमाण–व्यवस्था का विवाद भी तत्त्वमीमांसीय पूर्वाग्रहों से बंधी हुई समस्या है। यह बौद्धेतर वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की उदारता है कि वह प्रमाणों की सम्प्लवात्मक प्रकृति को अनुमोदित करते हुए उनके व्यवस्थापरक विनियोग का विरोध नहीं करता है। वहीं बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा का इतना कठोर अनुशासन है कि वह उन्हें प्रमाण–व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ स्वीकार नहीं करने देता। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय नियामकता में प्रमाणों का अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में रूढ़ हो जाना उनकी नियति है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिशासनों से युक्त भिन्न–भिन्न प्रमाणमीमांसीय योजनाओं के द्वारा हमारे लोकानुभव और व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय योजनाएँ लोकानुभव और व्यवहार को ससम्मान विवेचित और व्याख्यायित करते हुए एक 'दृष्टिविशेष' से उसे संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं। इसे

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की विशिष्टता ही मानी जानी चाहिए कि यहाँ प्रमाणशास्त्र भी अपने को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह आध्यात्मिक एवं तत्त्वशास्त्रीय मूल्यों के लोकावतरण की भित्ति बन सके।

ग्रन्थ का सप्तम खण्ड 'प्रमाणान्तर्भाव' है। इस खण्ड में ग्रंथकार ने प्रमाणों की संख्या की अनुवीक्षा, प्रमाणों का तात्त्विक अभ्युपगम, प्रमाण विभाग तथा संख्या संबंधी मतवैभिन्य और प्रमाणान्तर्भाव की अनुकूलता की परीक्षा की है। विभिन्न दार्शनिकों ने अपने–अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिये विभिन्न प्रकार से प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। इसलिए प्रमाणों की संख्या विषयक मान्यता के प्रसंग में अनेक विप्रतिपत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ–सामान्यतः चार्वाक मतावलम्बी प्रायः एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक दर्शन को प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण इष्ट है। बौद्ध मत में यद्यपि दिङ्नाग के पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'उपायहृदय' में न्यायसूत्रकार सम्मत चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है फिर भी दिङ्नाग ने वैशेषिकों की भाँति प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने इस विषय में दिङ्नाग का ही अनुसरण किया है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण के ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि भी 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' (योगसूत्र) कहकर तीन प्रकार के प्रमाण स्वीकार करते हैं। उत्तरवर्ती सभी सांख्य दार्शनिकों ने प्रमाणों की प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम रूप इस त्रिविधता का ही समर्थन किया है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने चार प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का स्पष्टतः उल्लेख किया है, जिन्हें प्राचीन और नव्य सभी नैयायिकों ने स्वीकार किया है। प्राभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के अतिरिक्त अर्थापत्ति नामक एक प्रमाण और स्वीकार करके प्रमाणों की संख्या पाँच मानते हैं। इन्हीं पाँच प्रमाणों को उत्तरवर्ती प्राभाकर आचार्य शालिकनाथ आदि ने भी स्वीकार किया है। इनमें छठा प्रमाण अनुपलब्धि को सम्मिलित कर भाष्यकार शबरस्वामी ने छः प्रमाणों को अनुमोदन किया है जिसका कुमारिल के पश्चात् सभी भाट्ट मीमांसकों ने समर्थन प्राप्त है। इन्हीं छः प्रमाणों का अद्वैत–वेदान्त के प्रमण–मीमांसक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी अनुगमन किया है। इन छः प्रमाणों में 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' को जोड़कर पौराणिकों ने आठ प्रमाणों को स्वीकार किया है। इन आठ प्रमाणों के

अतिरिक्त आतंकारिकों को अभिमत प्रतिभा प्रमाण का उल्लेख 'माठरवृत्ति' तथा 'गौडपादभाष्य' आदि में उपलब्ध होता है। इन मान्यताओं के अतिरिक्त एक ऐसी भी परम्परा है जिसमें सभी प्रमाणों का खण्डन किया गया है। आचार्य नागार्जुन का समर्थन करते हुए श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य ने पारमार्थिक दृष्टिकोण से सभी प्रमाणों का खण्डन किया है, जबकि व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने अपने–अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रमाण भेदों की सर्जना की है। इसी विचारधारा में जयराशिभट्ट को भी समाविष्ट किया जा सकता है जिन्होंने अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सभी प्रमाणों का खण्डन किया।

ग्रंथकार ने उक्त विषय को युक्तियुक्त रीति से प्रस्तुत किया है। भारतीय दर्शन में न्यायवादी बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द नामक एक स्वतंत्र प्रमाण स्वीकृत है। प्रत्यक्ष प्रमाण केवल दृष्टवस्तु को ग्रहण करता है। अनुमान प्रमाण व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध पर निर्भर है। दोनों प्रमाणों में पारलौकिक पदार्थों के स्वरूप या सम्बन्ध ज्ञान की क्षमता न होने के कारण शास्त्र नामक एक तीसरा प्रमाण मानना आवश्यक है। मीमांसकों के अनुसार विधि वाक्यों के द्वारा स्वर्गादि असन्निकृष्ट अर्थों का साधक विज्ञान ही शास्त्र नामक शब्द प्रमाण है। नैयायिकों ने 'आप्त–वाक्य' के रूप में शब्द प्रमाण का लक्षण किया है। 'आप्तवाक्यं शब्दः' में शब्द लक्ष्य पद है। आप्तोपदेश लक्षण पद है। यथाभूत उपदेष्टा आप्त का स्वरूप माना जाता है। बौद्ध नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर शब्द की स्वतंत्र प्रमाणता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। नित्य और अपौरुषेय शब्द स्वरूप की संकल्पना अनेक विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त है। बौद्धों के लिए शब्द कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अनुमान के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव यथोचित है। बौद्धेतर प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान नामक एक स्वतंत्र प्रमाण भी बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि स्वयं बौद्धेतर दार्शनिकों के मध्य ही उपमान के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है तथापि सामान्य रूप से यह सादृश्यमूलक ज्ञान है। बौद्ध नैयायिकों के अनुसार यदि उपमान का स्वरूप ऐसा ही है, तो उसे स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने प्रमाणों के परस्पर भेद को प्रकारतामूलक मानकर अपने प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में अर्थापत्ति को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है।

मीमांसक और वेदान्ती इसके प्रबल समर्थक हैं। उभय मत में उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। बौद्ध नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है। इस ज्ञातपक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती, वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है। यहाँ विचारणीय है कि अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के ज्ञात और अज्ञात पक्ष में कैसा सम्बन्ध होता है? यदि दोनों के मध्य तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जाय तो अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमानवत् हो जाएगी।

प्रो. शर्मा का स्पष्ट मंतव्य है कि मानवीय अनुभव अपनी समग्रता में एक तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत किये रहती है। इस तात्त्विक पूर्वग्रह के प्रति जब हम ज्ञानमीमांसीय उपक्रम के द्वारा आत्मचेतन होते हैं तो विदित होता है कि पूर्वग्रहीत तत्त्वमीमांसा हमारे लोकानुभव को आदेशित नहीं करती बल्कि उसकी सम्यक् व्याख्या के लिए एक उच्चतर आधार प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक तंत्रों की ज्ञानमीमांसा में उस उस तंत्र के तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं के गहरे सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। ऐसे सन्दर्भों को तत्तद् दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों के अन्तर्गत परिलक्षित होना ही उन तंत्रों की प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को विशिष्ट और पुष्ट बनाता। यदि स्वीकृत प्रमाण इस अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं तो उनकी स्वरूप–हानि होती है। प्रमाणों का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उनकी व्यावहारिक सार्थकता भी है। प्रमाणों की व्यावहारिक सार्थकता, उनका साधनत्व एवं संख्या का विचार भी तात्त्विक रूप से स्वीकृत प्रस्थापनाओं अथवा प्रमेयों के प्रकाशन में ही पुरस्कृत हो पाती है।

ग्रन्थ का अष्ठम खण्ड 'प्रामाण्यवाद' है। इस खण्ड में प्रामाण्याप्रामाण्य की विविक्षा, प्रामाण्यवाद का इतिहास, पूर्वमीमांसा सम्मत स्वतःप्रामाण्यवाद, नैयायिकों का परतःप्रामाण्यवाद, उत्पत्तिवाद की समीक्षा, ज्ञप्तिवाद की समीक्षा, बौद्ध प्रामाण्यवाद का सम्यक् निरूपण प्राप्त है। भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के प्रश्न पर सर्वप्रथम मीमांसक और बाद में नैयायिकों ने जितनी गम्भीरता से विचार किया है उतनी ही गहराई से इस प्रकरण पर बौद्ध परम्परा में विचार नहीं हुआ है। प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निश्चय कैसे होता है? इस विषय में किये जाने वाले विवेचन को भारतीय दर्शन में 'प्रामाण्यवाद' के नाम से जाना

जाता है। ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में मुख्य रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है कि परतः। न्याय वैषेषिक दार्शनिकों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होता है। इसके विपरीत मीमांसक ज्ञान का, प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः मानते हैं। सांख्य दार्शनिक ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः मानते हैं, परन्तु कमलशील और शान्तरक्षित आदि बौद्ध दार्शनिक अभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों स्वतः और अनभ्यासदशापन्नज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं।

ग्रंथकार ने इस मूलगामी समस्या के समाधान के लिए तथा बौद्ध मत की स्थापना हेतु सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक परिवेश का गहनतापूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रामाण्य के सामान्य स्वरूप के विषय में तो सभी दार्शनिक एक मत हैं किन्तु उसका ज्ञान या ग्रहण व्यक्ति को किस प्रकार होता है इसके विषय में विभिन्न दार्शनिक विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। मुख्य रूप से इसके ग्रहण के विषय में दो प्रकार के मत हैं– स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद। स्वतस्त्व और परतस्त्व भी मुख्यतः दो प्रकार का माना गया है–उत्पत्तिकृत और ज्ञप्तिकृत। उत्पत्ति में स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामग्री है उसी से उसमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी उत्पन्न होता है, इसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। इसके लिए वक्ता के गुण–विशेष आदि की आवश्यकता नहीं होती। इस मत को मीमांसक और बौद्ध स्वीकार करते हैं। मीमांसक (कुमारिल) के अनुसार जिस इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि सामग्री से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है और जिस ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी ज्ञातता के द्वारा उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञप्ति आदि में स्वतः सिद्ध ही है। इसके विपरीत नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति केवल इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष से हो जाती है किन्तु उसमें प्रामाण्य गुणों के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है अगर उसी से

प्रामाण्य की उत्पत्ति भी होती तो कभी भ्रम उत्पन्न ही नहीं होता। अतः प्रामाण्य उत्पत्ति में पराश्रित होता है। ज्ञप्ति में भी वह पराश्रित ही होता है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और उसके प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता से होता है। प्रमाण का कार्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराना है; उसमें भी वह तभी समर्थ हो सकता है जब उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाये। इस प्रकार प्रमाण की उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा अपने कार्य में पराश्रित है, अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः होता है। इस प्रकार ज्ञान–ग्राहक–सामग्री एवं उसमें निहित प्रमाणत्व और अप्रमात्व ग्राहक सामग्री में भी अभेद मानने के कारण मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। किन्तु ज्ञान–ग्राहक–सामग्री एवं तद्गत प्रमात्व एवं अप्रमात्व ग्राहक सामग्री में भेद मानने के कारण नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं। यहाँ ज्ञान की ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' मानी गई है जबकि प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री अनुमान प्रमाण है; अर्थात् प्रवृत्ति के सफल अथवा असफल होने रूप अनुमान के द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रमाण्य ज्ञात होता है। जिस प्रकार प्रमाण के प्रामाण्य का ग्रहण परतः होता है, अर्थात् समर्थ प्रवृत्ति के बाद अनुमित होता है उसी प्रकार फलज्ञान रूप प्रमिति के प्रमाण्य का ग्रहण भी समर्थप्रवृत्ति के बाद ही अनुमिति होता है। मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार के पदार्थों में होती है – एक दृष्ट पदार्थ के लिए दूसरी अदृष्ट पदार्थ के लिए। दृष्ट पदार्थ भी दो तरह के होते हैं–एक अनभ्यासदशापन्न दूसरे अभ्यासदशापन्न।

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र, प्रज्ञाकर गुप्त, मोक्षाकर गुप्त, रत्नाकरशांति, रत्नकीर्ति और ज्ञानश्रीमित्र जैसे प्रभावशाली प्रमाणमीमांसक हुए। इनके प्रभाव में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का अभूतपूर्व विकास हुआ है। परन्तु इनके ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की चर्चा प्रसंगप्राप्त रूप से यत्किंचित् ही देखने को मिलती है। जबकि प्रामाण्यवाद को सुगठित रूप में प्रस्तुत करना किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए अपने पुरूषार्थ को प्राप्त करने जैसा होता है। शान्तरक्षित और कमलशील ही केवल इसके अपवाद कहे जा सकते हैं जिन्होंने क्रमशः 'तत्त्वसंग्रह' और 'तत्त्वसंग्रह पंजिका' में प्रामाण्यवाद के सभी विकल्पों पर बौद्ध दृष्टि से विचार किया। शान्तरक्षित वह पहले व्यक्ति हैं जो बौद्धेतर दर्शनों के प्रामाण्य सम्बन्धी विचारों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका भूरिशः

खण्डन करते हैं और प्रमाण्यवाद के बौद्धपक्ष को समीक्षित रूप से उद्घाटित भी करते हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग से कमलशील पर्यन्त बौद्ध प्रामाण्यवाद के विकास की दीर्घ यात्रा में उसका स्वरूप एकरेखीय नहीं रहा है। जबकि मीमांसक और नैयायिक अपने–अपने स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद की दृढ़ धारणा से कभी विचलित होते दिखाई नहीं पड़ते। वस्तुतः बौद्ध नैयायिकों के समक्ष एक ओर ज्ञान की आदर्शभूत स्थिति बुद्ध की सर्वज्ञता थी तो दूसरी ओर साधारण व्यक्तियों को होने वाला नील– पीत का ज्ञान सांव्यावहारिक ज्ञान का प्रतिदर्श था। इन दोनों प्रकार के ज्ञान को एक स्तर का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने प्रारम्भ से ही प्रामाण्यवाद के विमर्श को परमार्थ और संवृत्ति के दो धरातल पर सुगठित करने का प्रयास किया है। बुद्ध सर्वज्ञ हैं और परमार्थ सत्य को सम्यक् रूप से जानने वाले हैं। इतना ही नहीं, वे परमार्थ सत्य और संवृत्ति सत्य के भेद को भी जानते हैं। इसीलिए उन्हें सम्यक् सम्बुद्ध कहा जाता है। अतः उनके ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता स्वाभाविक ही है। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे मीमांसक वेदों की अपौरुषेयता की रक्षा हेतु स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन करते हैं परन्तु इससे आगे घटपटादि लौकिक ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध करने के लिए हठ करते हुए दिखाई देते हैं। बौद्ध ऐसा नहीं करते। उनके अनुसार बुद्ध सर्वज्ञ होने से प्रमाणभूत हैं। अतः उनके ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होना औत्सर्गिक है। परन्तु साधारण व्यक्तियों को होने वाला नील–पीत का सांव्यावहारिक ज्ञान प्रथम दृष्ट्या परतः प्रामाण्य ही होता है। यह बात अलग है कि सांवृत्तिक धरातल पर होने वाले सभी ज्ञानों की प्रस्थिति एक जैसी नहीं होती। अतः सांव्यावहारिक क्षेत्र के कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और शेष का परतः भी स्वीकार किया जा सकता। वस्तुतः नैयायिक और बौद्ध प्रामाण्यवाद का अन्तर इस बात में निहित है कि परतः प्रामाण्य की अवधारणा पर किस तरह अनवस्था दोष की प्रसक्ति दिखाई जाती है और उसका किस तरह परिहार किया जाता है। न्यायमत में एक ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय रूपी मानस प्रत्यक्ष नामक दूसरे ज्ञान से होता है और दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिए तीसरे अनुव्यवसाय रूपी मानस प्रत्यक्ष की अपेक्षा। इस अपेक्षा का अन्तहीन होना ही मूलोच्छेदक अनवस्था। यही अनवस्था प्रामाण्य की परतः ज्ञप्ति को लेकर उत्थापित होती है, क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण भी तो एक ज्ञानस्थिति ही है और उसके ज्ञान

के लिए ज्ञानान्तरों की आवर्तीय अपेक्षा अनवस्था को सैद्धान्तिक रूप से दुर्गम बना देती है। इसके उत्तर में नैयायिक यह नहीं कह सकते कि प्रवृत्तिसाफल्य के पश्चात् प्रेक्षावान व्यक्ति की निवृत्ति हो जाती है; अतः यह प्रक्रिया इसी बिन्दु पर विरमित हो जाती। यह उत्तर प्रामाण्य के भी परतः प्रामाण्य की दृष्टि से सर्वथा उचित है लेकिन जिस प्रवृत्तिसाफल्य से पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित और ज्ञापित होता है उस प्रवृत्तिसाफल्य–ज्ञान के ज्ञान की दृष्टि से यह समाधान कथमपि संतोषजनक नहीं है। यहाँ अनवस्था का प्रसंग प्रामाण्य के भी परतः प्रामाण्य की अपेक्षा से नहीं है वल्कि प्रामाण्य–ज्ञान की परतः ज्ञप्ति की अपेक्षा से है। यह सही है कि पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रमात्व या प्रामाण्य उत्तरवर्ती प्रवृत्तिसाफल्य से सिद्ध हो जाता है और प्रामाण्य की जिज्ञासा इसी के साथ विरमित भी हो जाती है लेकिन प्रवृत्तिसाफल्य भी तो एक ज्ञानस्थिति ही है और उसके परतः ज्ञापित अथवा प्रकाशित होने की अपेक्षा यहाँ भी बनी ही रहती है। अतः नैयायिकों के परतः प्रामाण्यवाद में अनवस्था की प्रसक्ति ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से दुष्कर है। उनके पास एक ही विकल्प शेष बचता है कि वे स्वीकार करें कि सभी ज्ञानों का ज्ञात होना अपरिहार्य नहीं है। इस तरह प्रवृत्तिसाफल्य की ज्ञानस्थिति अज्ञात रहकर भी पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध कर सकती है। परन्तु ऐसे निश्चेष्ट प्रामाण्यग्रह को आत्मचेतन मनुष्य का प्रामाण्यबोध नहीं कहा जा सकता।

ग्रंथ का अंतिम खंड 'उपसंहार' है। इस खंड में भारतीय दार्शनिक धारा की विशेषताओं और उसकी तन्त्रबद्धताओं का वर्णन है। इस खंड में भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के विकसन को विशेषतः बौद्ध दर्शन के आलोक में प्रस्तुतीकरण है। भारतवर्ष में विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों, विचारों को स्वतन्त्र रूप से पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर मिला। इसका कारण संभवतः यह था कि भारतीय परंपरा में कभी भी वैचारिक संकीर्णता नहीं रही। अपने मत, विचार, सिद्धान्त, दर्शन के प्रतिपादन, प्रवर्तन की स्वतन्त्रता सभी को सदैव प्राप्त थी। इस स्वतन्त्रता ने ही यहाँ की चिन्तन–भूमि को उर्वर बनाया। फलतः इस भूमि पर विविध दार्शनिक सम्प्रदायों (वादों) का आविर्भाव हुआ तथा उनका निर्विघ्न विकास हुआ। भारतीय परम्परा में जहाँ प्रत्येक दार्शनिक को अपने सिद्धान्तों की स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन करने की स्वतन्त्रता थी, वहीं विभिन्न सम्प्रदायों के

दार्शनिकों के विचार–विनिमय का भी वातावरण था। इस मिलन, सम्मेलन हेतु भारतीय परम्परा में शास्त्रार्थ का आयोजन एक महत्त्वपूर्ण मंच था। इस मंच के माध्यम से एक दार्शनिक दूसरे दार्शनिक को अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे तथा दूसरे के मत को सुनते थे। वाद–विवाद, खण्डन–मण्डन की प्रक्रिया द्वारा वे अपने वैचारिक मतों का संवर्द्धन, परिमार्जन करते थे। फलतः तार्किक दृष्टि से भारतीय परम्परा के दर्शन अपनी–अपनी दृष्टियों से पूर्णतया विकसित हुए। विचार विनिमय की इस परम्परा ने जहाँ भारतीय दर्शन को विविधता प्रदान किया वहीं भारतीय दर्शन की समग्रता में एकरूपता का भी समावेशन हुआ। भारतीय दर्शन सम्प्रदाय सिद्धान्त की दृष्टि से विभिन्न हैं, स्वरूप (शरीर) की दृष्टि से अनेक हैं किन्तु आत्मा (लक्ष्य) की दृष्टि से एक है। कोई भौतिकवादी है तो कोई अध्यात्मवादी, कोई वस्तुवादी है तो कोई प्रत्ययवादी, कोई ईश्वरवादी है तो कोई निरीश्वरवादी, कोई द्वैतवादी है तो कोई अद्वैतवादी/अद्वयवादी। इन सभी में एक बात पर सहमति है और वह है आत्मज्ञान, आत्मोपलब्धि।

'बौद्ध प्रमाणमीमांसा' के ग्रंथकार प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, टीका एवं प्रकरणादि ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय परम्परा में व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं के लिए ब्राह्मण और बौद्ध विचारधारा के मध्य हजार से अधिक वर्षों के वैचारिक संघर्ष को भारतीय दर्शन के समग्र विकास की दृष्टि से इस काल–खण्ड को स्वर्णिम युग कहा है। इसी अवधि में भारतीय दर्शन को चूड़ान्त समृद्धि एवं प्रखर आलोचनात्मकता प्राप्त हुई। सत्–विषयक दो भिन्न प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हुई दोनों परम्पराएँ आरम्भ से ही न केवल एक–दूसरे के विरोध में पनपती रहीं बल्कि परस्पर एक–दूसरे को विकास एवं परिष्कार की नई–नई प्रेरणाएँ भी प्रदान की हैं। बौद्ध धर्म का आविर्भाव ही यद्यपि वैदिक परम्परा के प्रति कुछ मूलभूत असहमतियों को लेकर हुआ है लेकिन दोनों परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच खण्डन–मण्डन का प्रारम्भ एक परवर्ती घटना है। बौद्ध निकाय से नागार्जुन प्रारंभक माने जा सकते हैं। नागार्जुन से पूर्व बौद्ध दर्शन का विकास उसके विभिन्न निकायों एवं सम्प्रदायों द्वारा अपने–अपने पक्ष में बुद्ध वचनों की व्याख्या तक सीमित था। नागार्जुन के आविर्भाव के साथ बौद्ध दर्शन पहली बार एक दार्शनिक पूर्वपक्ष की भूमिका में बाहर झाँका और अपने चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय की सर्वसंहारक शैली में

उस समय तक सूत्रबद्ध एवं प्रचलित ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों को ग्रास बना लिया। न्याय दर्शन का बौद्ध दर्शन के साथ संघर्ष का व्यवस्थित इतिहास जितना महत्त्वपूर्ण और विस्तृत है उतना किसी अन्य दर्शन का नहीं। इसीलिए न्याय दर्शन का विकास और परिष्कार बौद्धों के प्रभाव में सर्वाधिक हुआ है। बौद्ध दर्शन, न्यायदर्शन तथा मीमांसकों का तन्त्रों के प्रति दूसरे स्तर का विरोध दिङ्नाग से प्रारम्भ होता है। इस विरोध की प्रकृति प्रतितंत्री विचार व्यवस्था में दोषों का उद्भावना करते हुए स्वपक्ष की युक्तिपुरस्सर प्रतिष्ठा है। इसके परिणामस्वरूप बौद्धों एवं नैयायिकों और मीमांसकों के मध्य एक सघन वाद–प्रतिवाद की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ और तीनों ही दर्शनों का अभूतपूर्व उत्तरोत्तर विकास हुआ।

इस ग्रंथ में विश्लेषण–पद्धति का अमुपम प्रयोग है। इस पद्धति का अनुप्रयोग करते हुए ग्रंथकार ने बौद्ध प्रमाणशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को केन्द्रीय सन्दर्भ बनाया है और आद्यन्त रूप से यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन लोकानुभव का समादर करते हुए तत्त्वमीमांसा को विरासत भाव से अनुगृहीत किये हुए है। ग्रंथकार का आशय है कि इस दृष्टि से प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा और कुछ नहीं बल्कि अपने मूलगामी स्वरूप में 'तत्त्वमीमांसा' जो मानवीय चेतना में आध्यात्मिक प्रवृत्ति और गोत्र–भेद के साथ सहज रूप में अन्तर्विष्ट रहती है, उसके प्रति आत्मचेतन होने का उपक्रम है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों का प्रमाणमीमांसीय पक्ष अपने विकासमान स्वरूप में उत्तरोत्तर अन्यव्यावृत्त तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही रूपायित करता है। अतएव निष्कर्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय निर्धारणों एवं निष्कर्षों में अन्तहीन भेद तत्त्वमीमांसामूलक हैं और भेदपूर्ण तत्त्वमीमांसीय अभिवृत्ति को व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों अथवा गोत्रमूलक भेद के पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'बौद्ध प्रमाणमीमांसा' प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा की सर्जना है। इस सर्जन यात्रा में प्रो. शर्मा ने अपनी अमूर्त अनुभूतियों को शब्द और अर्थ के माध्यम से मनोज्ञ एवं विचाररमणीय मूर्तरूप दिया है। इस ग्रंथ–लेखन की सर्जना में उनके दार्शनिक मन में अनेक सवेदनाएँ स्फुरित हुई हैं और अन्तश्चेतना से संपर्कित संवेदनाएँ पहले से विद्यमान संस्कारों से संश्लिष्ट होकर प्रमाणमीमांसीय अविद्यानाशक अनुभूति रूप में समन्वित

होती हैं। प्रस्तुत पुस्तक का संघटनात्मक कौशल प्रशंसनीय है। विषय विविध हैं, उनके परिदृश्य एवं आयाम भी अनेक हैं। परंतु अपनी समग्रता में यह ग्रंथ आनुभविक प्रमाणशास्त्र द्वारा घटित सांस्कृतिक जीवन–मूल्यों का दस्तावेज है। इसके संघटनात्मक प्रारूप में एक आनुभविक एवं वैचारिक अन्विति है जहाँ रचनाकार सर्जनात्मक औदात्य का अनुभवन करता है।

ग्रंथ की शिल्प–योजना विश्लेषणात्मक, समीक्षात्मक और तुलनात्मक है। इसमें 'साम्य–विधि' तथा 'वैषम्य–विधि' का सम्यक् प्रयोग ग्रंथकार ने किया है। ग्रंथ में व्यंजित प्रमाणों की व्यापकता और प्रासंगिकता का भारतीय ज्ञान–परंपरा में औचित्य का स्वीकृत विधान है। यह ग्रंथ दर्शनशास्त्र के सम्पूर्ण परिधि में उच्चानुशीलन के लिए सर्वथा उपादेय है।

**दर्शन एवं संस्कृति विभाग**
**महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय**
**हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)**

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053